हिन्दी गद्य विकास

लेखक

कमलापति एम० ए०, एम० एड०

प्रो० ट्रेनिङ्ग कालेज, जौनपुर

सुरेशकुमार एम० ए० विद्यालंकार

हिन्दी प्राध्यापक गुरुकुल काँगड़ी

कपूर प्रिंटिंग प्रेस

दिल्ली, आगरा।

गुरुकुल पुस्तकालय को
सप्रेम भेंट

सुरेश
2/2/69

हिन्दी गद्य विकास

लेखक

कमलापति एम० ए०, एम० एड०

प्रो० ट्रेनिङ्ग कालेज, जौनपुर

सुरेशकुमार एम० ए० विद्यालंकार

हिन्दी प्राध्यापक गुरुकुल काँगड़ी

कपूर प्रिंटिंग प्रेस

दिल्ली, आगरा।

लेखकीय

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी साहित्य के विभिन्न परीक्षार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई है। परीक्षार्थियों के अतिरिक्त अन्य पाठक, जो हिन्दी गद्य के विकास को जानने में रुचि रखते हों, भी इससे लाभ उठा सकते हैं ; इस पुस्तक को पढ़ कर वे हिन्दी गद्य के विकास का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये अग्रसर हो सकते हैं।

हिन्दी गद्य का क्रमिक विकास दिखाते हुए उसकी प्रवृत्तियों पर ही इस पुस्तक में विशेष बल दिया गया है। प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिये अपेक्षित सूचना भी पूरी मात्रा में दी गई है। सूचना को ध्येय समझ कर पुस्तकों और लेखकों की नामावली देना हमने उचित नहीं समझा ; वह तो प्रकाशकों के सूचीपत्र का क्षेत्र है। विद्यार्थी के लिये भी पुस्तकों और लेखकों की नामावली जानने की अपेक्षा प्रवृत्तियों का ज्ञान अधिक प्रयोजनीय है।

लेखन-शैली की सुबोधता पर हमने विशेष ध्यान दिया है। भाषा तो सरल है ही, विषय के विवेचन में भी व्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी गद्य के विकास की रूपरेखा देते हुए हमने उसके विविध गद्य रूपों का स्वतंत्र विकास दिखाया है। इसके साथ ही गद्य रूपों के सिद्धान्तों का सामान्य परिचय देते हुए प्रमुख गद्यकारों की गद्यशैलियों की भी विवेचना कर दी गई है। इस प्रकार विषय और शैली की दृष्टि से पुस्तक को यथासंभव अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

अन्त में हम उन लेखकों का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते हैं जिनके ग्रन्थों से प्रस्तुत ग्रन्थ के लिखने में सहायता मिली है।

विषयसूची

विकास की रूपरेखा

हिन्दी गद्य का विकास और इतिहास व्यवहार में प्रायः खड़ी बोली-गद्य के विकास और इतिहास का पर्यायवाची माना जाता है। कारण यह है कि खड़ी बोली को ही प्रायः सर्वांश में हिन्दी गद्य के निर्माण का श्रेय प्राप्त है। परन्तु, इतना ही पर्याप्त नहीं, हिन्दी-गद्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। हिन्दी साहित्य का प्रारंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। साहित्य में पद्य और गद्य दोनों का समावेश होता है। अतः हिन्दी गद्य का जन्मकाल भी आठवीं शताब्दी है; परन्तु इस तथ्य की विश्वासपूर्वक घोषणा नहीं की जा सकती क्योंकि उस काल में अत्यन्त स्पष्ट रूप से पद्य की प्रधानता रही है। पद्य प्रधानता इस युगकी माँग थी। परन्तु गद्य की धारा भी तभी से अत्यन्त विरल रूप में बहती रही और सन् १८०० के बाद वह धारा पृथुलता प्राप्त करने लगी तथा अब तक डेढ़ सौ वर्षों में हिन्दी-गद्य की उक्त धारा इतनी व्यापक हो गई है कि पद्य उससे पीछे रह गया है। उसकी इस व्यापकता में प्रेस, यातायात व्यवस्था, विदेशी सम्पर्क आदि का अपना स्थान है।

इस प्रकार सन् १८०० को हम हिन्दी-गद्य की धारा का महत्त्व-पूर्ण मोड़ कह सकते हैं। सन् १८०० से पहले मैथिली-गद्य, राजस्थानी गद्य, ब्रजभाषा गद्य और दक्खिनी हिन्दी गद्य का विकास हुआ तथा सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना के साथ अंग्रेजों के निकट सम्पर्क में आ जाने के कारण हिन्दी गद्य ने मैथिली, राजस्थानी और ब्रजभाषा का आँचल छोड़ कर खड़ी बोली को अपनाया और तब से गद्य साहित्य युग धर्म के साथ कदम पर कदम मिलाता हुआ चला

श्रा रहा है। जिस मंज़िल पर वह आज पहुँचा हुआ दिखाई दे रहा है उसकी सीढ़ियों को देखकर ही उसकी उन्नति और उपलब्धि का सही अनुमान किया जा सकता है। हम अपने पाठकों को वे सीढ़ियाँ दिखाते हुए ही मंजिल पर उनकी दृष्टि पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे।

अपभ्रंश गद्य

भाषा और साहित्य, दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश को हिन्दी की जननी कहा जाता है। अतः हिन्दी गद्य का विकास जानने के लिये हमें सबसे पहले अपभ्रंश की ओर देखना होगा।

अपभ्रंश में गद्य अत्यन्त न्यून है, कम से कम अपभ्रंश में लिखित किसी गद्य-कथा की सूचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई।

अवहट्ठ या मैथिली गद्य

अपभ्रंश का विकसित रूप अवहट्ठ कहलाया। विद्यापति ने इस का नामोल्लेख किया है—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

विद्यापति की 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' की भाषा अवहट्ठ ही है। ये दोनों गद्य-पद्य रचनाएँ हैं। इनके गद्य पर संस्कृत का बहुत प्रभाव है। एकाध क्रिया या अव्यय को छोड़कर शब्दावली प्रायः संस्कृतगर्भित है तथा संकृत गद्यशैली के अनुकरण पर समस्त पदावली का प्रयोग किया गया है।

गद्य की दृष्टि से अवहट्ठ भाषा की प्रमुख रचना का नाम है 'वर्णरत्नाकर' जिसके लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं। 'वर्णरत्नाकर' का गद्य संस्कृत-गद्य के प्रभाव से प्रायः मुक्त है। असमस्त पदावली का प्रयोग भी इसमें किया गया है। इसकी भाषा का नमूना देखिये—

'एके अपूर्व विश्वकर्म्मंत्रि निर्म्मउलि याक मुखक शोभा देखि

पद्मे जल प्रवेश कएल० आषिक शोभा देख हरिण वण गएल० केशक शोभा देख चमरी पलायन कएल० ।'

'वातायन-विचित्र-विपुलाकृति-शत हाथ भीतर।'

इन उद्धरणों में 'देख', 'हाथ', 'भीतर' आदि शब्द तो एकदम खड़ी बोली के हैं। इसके रचना काल के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसकी हस्तलिखित प्रति सन् १५०७ ई० की मिलती है। मिथिला प्रदेश की रचना होने के कारण 'वर्णरत्नाकर' के गद्य को मैथिली गद्य नाम दिया गया है। हिन्दी-गद्य के विकास में 'वर्णरत्नाकर' का महत्त्व असंदिग्ध है।

विहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में हो रहे प्रचीन पोथी सम्बन्धी शोध कार्य के सिलसिले में 'भगतमहातम कथा' तथा 'भोपालबोध' नामक दो ग्रन्थों का पता चला है। इनमें भी गद्य का प्रयोग है। खड़ी वोली के कई शब्दों का इनमें व्यवहार किया गया है। परन्तु जब तक इनकी प्रामाणिकता स्थिर न हो जाये तब तक इन्हें हिन्दी-गद्य के विकास में कोई स्थान देना अनुचित होगा।

राजस्थानी गद्य

राजस्थानी गद्य का हिन्दी-गद्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजस्थानी और गुजराती अपने शैशव काल में एक ही भाषा थीं। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी तक दोनों का रूप बिलकुल एक सा था। प्रादेशिक भेद होना तो स्वाभाविक है। 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में संगृहीत गद्य के नमूनों को राजस्थानी गद्य मानना अनुचित न होगा। इस प्रकार राजस्थानी गद्य की परम्परा बहुत पुरानी है। डा० मेनारिया के अनुसार ईसा की बारहवीं शताब्दी से राजस्थानी गद्य का आरम्भ होता है। यह अनेक रूपों में उपलब्ध होता है जिनमें 'बचनिका', 'ख्यात' और 'बात' मुख्य हैं।

बचनिका का गद्य-पद्यानुकारी तथा तुकात्मक होता है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण बचनिकाएँ राजस्थान में बहुत लोकप्रिय हुईं। इनकी रचना भी बृहत संख्या में हुई। राजस्थान का शायद ही कोई चारण ऐसा हो जिसके पास किसी बचनिका की एक प्रति न निकल आये। एल० पी० टेसीटरी को बचनिकाओं के संग्रह का श्रेय प्राप्त है। इन बचिनकाओं में दो बचिनकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

१. अचलदास खीची की बचनिका सिवदास की कही। संवत् १४७० के आसपास इसकी रचना हुई। यह बचनिका शिव दास नामक चारण ने गांगुराना के प्रधान शासक अचल दास भांजडन के विषय में कही है। इसमें अचल दास के युद्ध-शौर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है। भाषा और काव्यत्व की दृष्टि से यह रचना उल्लेखनीय है। इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

गले सत का आवासाँ सौलोहडो करती जाइजै।
जितरा जितरा दृग दीजे तितरा अश्वमेध
ज्यांग का फल लीजै।

२. बचनिका राठौर रतन सिंह जी की महेसदसौत की खिरिया जगा की कही। इस की रचना संवत् १७१५ में हुई। इसमें महाराज रतन सिंह की उस कीर्ति का वर्णन है जब उन्होंने अपने स्वामी महाराज यशवन्त सिंह के लिये औरंगज़ेब तथा मुरादबक्स से लड़ते वीरता पूर्वक प्राणों को निछावर कर दिता था। इसकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी और मारवाड़ी है। नमूना इस प्रकार है—

तिणिबैला कपूर बीडा भाई डम्बरावां कबीसुरां
कूँ दिआ। दिवाणी किआ।

ख्यात वह साहित्य रूप है जिसमें प्राचीन राजपूताने के राजाओं द्वारा लिखाई गई उनकी ख्याति की सामग्री का संकलन है। इन

ख्यातों की संख्या भी कम नहीं। परन्तु 'मुहरणोत नेरणसी की ख्यात' सर्वप्रथम तथा सर्वप्रसिद्ध ख्यात है। सन् १६६५ में इसकी रचना हुई। जोधपुर के दीवान मुहरणोत नेरणसी ने राजपूताना के राजाओं की वंशावलियों का संकलन इस ख्यात में किया है। इसकी भाषा की बानगी देखिये---

अलावदीन जालेर ऊपर आयो। सोनगरा सूँ लड़ाई हुई।

बात भी राजस्थानी गद्य की उपलब्धि का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। बात का अर्थ है कहानी। पुराने दरबारों की किस्सागोई का संकलन बातों के रूप में हुआ। सबसे अधिक वातों का साहित्य कविराजा बाँकी दास की देन है। इनकी लिखी बातों की संख्या लगभग २८०० कही जाती है। कुछ प्रसिद्ध बातों के नाम इस प्रकार हैं—'गोरा बादल की बात', 'राणा उदै सिंह की बात', 'हाडे सूरजमल की बात', 'राणा कथा चितभर मिचा की बात' इत्यादि।

बात, ख्यात और बचनिका के अतिरिक्त दान पत्रों, पट्टों, परवानों, जैनग्रन्थों, राजनीति, इतिहास, काव्यशास्त्र, गणित तथा ज्योतिष आदि भिन्न भिन्न विषय सम्बन्धी ग्रन्थों में भी राजस्थानी गद्य मिलता है। राजस्थानी गद्य का महत्त्व इसी बात से आँका जा सकता है कि ब्रज भाषा का गद्य उसका पूर्ण रूपेण उत्तराधिकारी है। ब्रज भाषा का महत्त्व जब बढ़ गया और साहित्य के क्षेत्र में उसने सर्वातिशायी स्थान प्राप्त कर लिया तब स्वभावतः राजस्थानी को विदा लेनी पड़ी। परन्तु ब्रज भाषा के गद्य ने स्वतंत्र रूप में विकास नहीं किया अपितु राजस्थानी गद्य के क्षेत्र को ही अपनाया। ब्रज भाषा का वार्ता साहित्य राजस्थानी के बात साहित्य का ही विकसित रूप है। वास्तव में अन्तर भाषा का हुआ, क्षेत्र का नहीं। राजस्थानी गद्य ने अपने लिये जिन क्षेत्रों को चुना था, ब्रजभाषा ने उन पर अपना अधिकार कर लिया और राजस्थानी को

वहाँ से खदेड़ दिया। आरम्भिक ब्रजभाषा-गद्य पर राजस्थानी का प्रभाव इस स्थापना को प्रबल रूप से पुष्ट करता है।

ब्रज भाषा गद्य

हिन्दी-गद्य के विकास में ब्रजभाषा-गद्य का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु पद्य की तुलना में गद्य कम ही है। जिस प्रकार गद्य प्रधान आधुनिक युग में पद्य की अपेक्षाकृत न्यूनता है उसी प्रकार पद्य प्रधान तत्कालीन युग में गद्य की न्यूनता हो तो क्या आश्चर्य? ब्रजभाषा गद्य के महत्व के विषय में दो सर्वथा विरोधी मत सामने आ रहे हैं। परन्तु सचाई यह है कि ब्रजभाषा-गद्य को 'अत्यधिक महत्वपूर्ण' बताना भी उतना ही अशुद्ध है जितना उसे 'सर्वथा महत्त्वहीन' कहना। खड़ी बोली गद्य की परम्परा के पूर्वरूप के उसमें सम्यक् दर्शन होते हैं। खड़ी बोली का प्रारम्भिक गद्य ब्रजभाषा से सर्वथा प्रभावित है। वास्तव में ब्रजभाषा ने राजस्थानी से गद्य परम्परा को लेकर खड़ी बोली को सौंप दिया। उसका यह महत्त्व कम नहीं तथा इसी रूप में हमें उसके महत्त्व को स्वीकार करना चाहिये।

ब्रजभाषा के गद्य साहित्य को हम स्थूल रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं—मौलिक साहित्य, अमौलिक साहित्य। इन में से कुछ रचनाएँ तो केवल गद्य में हैं, कुछ रचनाओं में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

पहले हम मौलिक साहित्य को लेते हैं। समस्त मौलिक साहित्य को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(क) धार्मिक, (ख) साहित्यिक, तथा (ग) अन्य।

धार्मिक साहित्य में नाथ सम्प्रदाय, रामभक्ति सम्प्रदाय तथा कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के साहित्य की गणना होती है। कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय ने ब्रज भाषा गद्य में प्रभूत मात्रा में साहित्य की रचना की। वास्तव में ब्रज भाषा गद्य का

साहित्य कृष्ण भक्ति के विषयों से उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार पद्य का साहित्य। कृष्ण भक्ति के दो सम्प्रदायों ने व्रज भाषा गद्य में साहित्य रचना की—टट्टी साम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय। साम्प्रदायिक साहित्य के अतिरिक्त पुराण, महाभारत, नीति, चरित्र तथा लीला सम्बन्धी विषयों पर भी व्रज भाषा गद्य में रचनाएँ हुईं।

साहित्यिक दृष्टि से रचनात्मक तथा शास्त्रीय दोनों प्रकार की रचनाएँ हुई। 'विदग्ध विलास' के आधार पर श्री रायहरि जी का व्रज भाषा में लिखित एक गद्य ग्रन्थ रचनात्मक ग्रन्थ है। शास्त्रीय ग्रन्थ अलंकार, रस, नायिका भेद, छन्द, आदि विषयों पर पाये जाते हैं, जैसे जयगोविन्द वाजपेयी का 'कवि सर्वस्व'। यह केवल गद्य में लिखा गया है; अन्य ग्रन्थों में गद्य, पद्य दोनों मिलते हैं, जैसे सुखदेव सिंह मिश्र का 'पिंगल,' बनारसी दास का 'बनारसी विलास', बख्शी समन सिंह का 'पिंगल काव्य भूषण', भिखारी दास का 'छन्द प्रकास', महाराज मान सिंह कृत 'नाथप्रशंसा' आदि।

अन्य मौलिक रचनाओं में 'मुगल बादशाहों का संक्षिप्त इतिहास' (१७६३) एक ऐतिहासिक रचना है और 'बाजनामा व दौलतनामा' पशु चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ है। उक्त दोनों रचनाओं के लेखकों के विषय में कुछ मालूम नहीं। व्यास कृत 'शकुन विचार' शकुन-विद्या सम्बन्धी और यदुनाथ शुक्ल का 'पंचांग दर्शन' ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ हैं जो व्रज भाषा गद्य में लिखी गई।

व्रजभाषा-गद्य के प्रथम लेखक गोरख नाथ माने जाते हैं। मिश्र बन्धुओं के अनुसार उनका समय संवत् १४०० के आस पास है, डा० राम कुमार वर्मा ने इन्हें सं० १२५० में विद्यमान माना है और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें दसवीं शताब्दी से बाद का नहीं मानते। 'गोरखसार' नामक एक व्रज भाषा गद्य ग्रन्थ का सम्बन्ध गोरख नाथ से जोड़ा जाता है। उसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप जिन्ह को जिहिके नित्य गाये तो शरीर चेतनि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हो गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं।

गोरखनाथ ने 'गोरख सार' की रचना की है या नहीं, यह सन्दिग्ध हो सकता है परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि 'गोरख सार' सन् १३४३ की रचना है। उपरोक्त उद्धरण को हम सन् १३४३ के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना मान सकते हैं। इसके बाद दो सौ वर्ष तक ब्रजभाषा-गद्य का कोई चिन्ह नहीं मिलता। संभव है कि भविष्य में कोई खोज हो और यह टूटी कड़ी जुड़ जाय। सोलहवीं सदी से ब्रजभाषा-गद्य के विकास की अविच्छिन्न परम्परा प्रारम्भ हुई जो विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक चली आई।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने ब्रजभाषा गद्य को समृद्ध किया। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने '८४ अपराध' नाम से एक गद्य ग्रन्थ की सन् १५१३ और १५२३ के बीच में रचना की। वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठल नाथ का 'शृंगार-रस-मण्डन' ब्रज भाषा का महत्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ की भाषा का यह नमूना दिया है—

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि के इनके मन्द हास्य ने जीतै हैं। अमृत समूह ता करि निकंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।"

श्री विट्ठल नाथ के पुत्र गोकुल नाथ के वचनों का संग्रह 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मिलता है। यह ब्रज भाषा गद्य का उत्कृष्ट रूप है। वाक्य रचना स्वच्छ और व्यवस्थित है। भाषा में प्रवाह है। शब्दावली में बोल चाल के सरल तद्भव शब्दों का प्रयोग है। संस्कृत के साथ उर्दू फारसी के प्रचलित

शब्द भी ले लिये गये हैं। वस्तुतः यह गद्य बहुत व्यावहारिक बन पड़ा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "इन पुस्तकों की भाषा बहुत व्यवस्थित है और उसमें लम्बे विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे छोटे वाक्यों से चरित नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है कि मानों किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रंगों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ ३६४)।

इस ग्रन्थ की भाषा का नमूना इस प्रकार है—

"सो श्री नंद गाम में रह तो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें लोगन ने वाको नाम खण्डन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खण्डन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही, 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननौ होव तो इहाँ आवो।"

श्री हरिराय जी (१५६०-१६६६) ने गोकुल नाथ जी के वार्ता साहित्य को पुष्ट किया। इनकी भाषा में ब्रज भाषा का अपनापन मिलता है। हरिराय जी के ग्रन्थों में ब्रज भाषा गद्य के चरम विकास के दर्शन होते हैं।

ब्रज भाषा गद्य की अन्य मौलिक रचनाओं में नाभा दास कृत 'अष्टयाम' (१६००); बैकुण्ठमणि शुक्ल कृत 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' (१६२५); काका वल्लभ जी कृत '५२ वचनामृत' (१६५० से १७३०); ललित किशोरी और ललित मोहिनी कृत 'श्री स्वामी जी महाराज की बचनिका' (सन् १७५०); प्रिय:दास कृत 'सेवक चरित्र' (१७७८); हीरालाल कृत 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका' (१७९५); लल्लू लाल कृत 'राजनीति' (१८०२) और

'माधो विलास' (१८१७) तथा नवलसिंह कृत 'महाभारत वार्तिका' (१८४०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रियादास, लल्लू लाल और नवल सिंह के ग्रन्थों में समर्थ एवं पुष्ट गद्य के दर्शन होते हैं।

अब अमौलिक साहित्य की चर्चा की जाती है। इसमें टीका-साहित्य और अनूदित साहित्य की गणना होती है।

टीकाएँ अधिकतर हिन्दी के अमर काव्य-ग्रन्थों पर लिखी गईं। उत्तर मध्ययुग की पण्डित गोष्ठियों में सबसे अधिक प्रचार 'बिहारी सतसई' का था। श्री जगन्नाथ दास 'रत्नकर' की सूचना के अनुसार केवल सतसई पर ही बीस टीकाएँ व्रज भाषा गद्य में लिखी गईं। इनमें से प्रमुख हैं—कृष्ण लाल की टीका, अनवर चन्द्रिका टीका, कर्ण कवि की साहित्य चन्द्रिका टीका, सूरति मिश्र की अमर चन्द्रिका, ईसवी खाँ की रस-चन्द्रिका, हरिचरण दास की हरि प्रकाश टीका, सरदार कवि की टीका। केशव की 'कवि प्रिया' पर हरि चरण दास की टीका (१७७७) और लछमन राव की 'लछमनचन्द्रिका टीका' (१८१६) हैं। 'रामचन्द्रिका' पर जानकी दास की टीका (१८१५) मिलती है। 'रसिक प्रिया' पर सरदार कवि ने टीका लिखी। अन्य प्रमुख टीकाओं में गोपेश्वर कृत 'शिक्षा पत्र की टीका' (१६५०), प्रेम दास कृत 'हितचौरासी की टीका' (१७००), महन्त राम चरण कृत 'रामायण सटीक', प्रताप साहि कृत 'रस राज की टीका' (१८३६) और महाराज रघुनाथ सिंह कृत 'गीत रघुनन्दन की टीका' (१८४४) का नाम लिया जा सकता है।

संज्ञा रूपों और सर्वनामों की अनेक रूपता तथा क्रियापदों, कृदन्तों और कारक चिह्नों में अव्यवस्था इन टीकाओं के प्रमुख दोष हैं। इसीसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन टीकाओं की भाषा को 'अनगढ़' और 'सद्ढड़' बतलाया। परन्तु कुछ टीकाओं की भाषा वस्तुतः प्रशंसनीय है। गोपेश्वर कृत 'शिक्षा पत्र की टीका' की भाषा का नमूना देखिये—

"भक्त के दुख को सहन नाहीं करि सकै। ऐसे प्रभु वाही समय वा प्रतिबन्ध को निश्चय निवृत्त करें। काहे तें जो आपुन सों कछु न बनै, तहाँ हरि ही रक्षक हैं। ऐसौ ही श्री महाप्रभु जी को वचनामृत है।"

अनूदित साहित्य भी ब्रजभाषा-गद्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। संस्कृत तथा फारसी के ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। अनूदित ग्रन्थों के विषय धार्मिक, साहित्यिक, वैद्यक आदि हैं। प्रमुख अनुवादों में नन्ददास (ये अष्टछाप के नन्ददास के भिन्न हैं)कृत 'नासिकेतु पुराण' का अनुवाद; चन्द्रसेन कृत 'माधव निदान'(वैद्यक ग्रन्थ) का अनुवाद (१६१२), दामोदर दास कृत 'मार्कण्डेय पुराण' का अनुवाद १६७८; 'भाषामृत' नाम से भगवानदास कृत श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद (१७७०); सूरति मिश्र कृत 'बैताल पचीसी' का अनुवाद (आगे चलकर लल्लू-लाल जी ने इसके आधार पर सन् १७११ में 'बैताल पचीसी' लिखी देवीचन्द कृत 'हितोपदेश' का अनुवाद (१७४०); मनोहरदास निरंजिनी कृत 'दर्शनी निर्णय' (१८५६) उल्लेखनीय हैं। जोधपुर के राजा यशवन्तसिह कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद बहुत सुन्दर अतएव उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण बन पड़ा है।

अनुवादों के अतिरिक्त काव्य संग्रहों के बीच बीच में या कवियों द्वारा अपनी रचनाओं के प्रसंग में व्यवहृत गद्य के अंश भी मिलते हैं। इस दृष्टि से श्री हरिनाथ गुजराती के'संग्रह कवित्त'(१७६४),रामसनेही सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी राम चरण दास के 'अणभौ विलास' (१७८८), प्रतापसाहि के रीति ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (१८२५), तथा सरदार रवि के 'मानस रहस्य'(१८४७) का नाम उल्लेखनीय है। इनमें श्री हरिनाथ गुजराती के गद्य का उदाहरण देखिये—

"एक मर्द ने एक चिरिया पकरी, वा चिरिया ने पूँछ्यो जो तू मोकों पकरि ल्यायो अब मोकौं तू कहा करैगो। तब वाने कही, जो मैं तो कौं मारि के खाऊँगो।"

ब्रजभाषा गद्य के इस सामान्य अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उसने बहुमुखी विकास किया। उसका उत्कृष्टतम रूप धार्मिक साहित्य में प्राप्त होता है। वह तो तात्कालिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हुईं कि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली ने अपने पैर जमा लिये अन्यथा समय बीतने के साथ-साथ ब्रजभाषा का गद्य भी परिमार्जित अवस्था को प्राप्त कर लेता। तथापि खड़ी बोली गद्य को उसने काफी प्रभावित किया। खड़ी बोली के प्रारंभिक रूप पर ब्रजभाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है।

दक्खिनी हिन्दी गद्य

हिन्दी-गद्य के विकास में दक्खिनी हिन्दी-गद्य का भी पर्याप्त हाथ रहा है। इस दृष्टि से गुलबर्गा के ख्वाजा बन्देनवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२) और मुल्ला वजही (१६०५-१६६० के लगभग) के नाम उल्लेखनीय हैं। ख्वाजा साहब के 'तीन रिसाले', 'मीराजुल आशकीन', 'हिदायतनामा' और 'रिसाला सेहवारा' नामक ग्रन्थ फारसी से दक्खिनी हिन्दी में अनूदित हैं। मुल्ला वजही द्वारा लिखित 'सबरस (१६३५) में दक्खिनी हिन्दी-गद्य का अत्यन्त मनोहर रूप मिलता है। उदाहरण लीजिये—

"एक शहर था, शहर का नाऊं सीस्तान। इस सीस्तान के बादशाह का नाऊं अक्ल। दीन व दुनिया का तमाम काम उस से चलता, उसके हुक्म बाज जर्रा कई नई हिलता। इसके फरमाये पर जिनो चले, हर दो जहान में वे भले।"

शैली की दृष्टि से तो दक्खिनी हिन्दी-गद्य का हिन्दी गद्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। ऐसा अनुमान भी किया जाता है कि जैसे भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ और वहाँ से उसका प्रसार उत्तर भारत में हुआ, उसी प्रकार खड़ी बोली गद्य ने भी दक्षिण में जन्म लेकर उत्तर में विकास किया। उत्तर में आकर दक्खिनी हिन्दी गद्य उर्दू गद्य के नाम से विख्यात हुआ। (उर्दू को दक्षिण में 'दक्खिनी हिन्दी' कहा जाता था।)

फोर्ट विलियम कालिज की भाषा नीति का झुकाव उर्दू की ओर अधिक था।

खड़ी बोली-गद्य

हिन्दी-गद्य वास्तव में खड़ी बोली-गद्य का ही विकास और विस्तार है। गद्य की भाषा के लिये खड़ी बोली से अधिक उपयुक्त अन्य भाषा को न माना गया। फलतः खड़ी बोली में ही गद्य लिखा जाना शुरु हुआ (और अब तक लिखा जा रहा है, तथा आगे भी लिखा जाता रहेगा) तथा उसका गद्य हिन्दी-गद्य का पर्यायवाची सा हो गया।

खड़ी बोली-गद्य के विषय में दो भ्रान्तियाँ मुख्य रूप से हैं—प्रथम, गद्य के लिये जिस खड़ी बोली को स्वीकार किया गया उस का मूल रूप उर्दू था। द्वितीय, खड़ी बोली-गद्य के सूत्रपात का श्रेय फोर्ट विलियम कॉलिज को है।

प्रथम भ्रान्ति को दूर करने के लिये इतिहास की ओर देखना होगा। देश के भिन्न-भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने और दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट-समुदाय के पारस्परिक व्यवहार की भाषा हो चली थी। मुगल-साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली उजड़ने पर मीर, इंशा आदि उर्दू शायर पूर्व की ओर जाने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगर वाले, खत्री आदि) भी जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूर्वी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली का जाना भी स्वाभाविक था। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं। यह अपने ठेठ रूप में पछाँह से आई हुई जातियों के घरों में बराबर बोली जाती थी और इन्हीं जातियों के कारण यह बड़े शहरों के बाजारों की व्यावहारिक

भाषा तथा शिष्ट समुदाय की भाषा हुई। गद्य के लिये जिस खड़ी बोली को अपनाया गया वह यही स्वाभाविक खड़ी बोली थी, उर्दू में से फारसी अरबी के शब्दों को निकाल कर इसे नहीं गढ़ा गया था। खड़ी बोली की धारा तो उर्दू के जन्म से भी पहले चली आती है। भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक जो अपभ्रंश काव्यों की परम्परा चली आती है, उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूपों की झलक अनेक पद्यों में मिलती है। जैसे—

"सोउ नुहिट्टिर संकट पाआ।
देवक लेखिअ कोण मिटाआ!"

अर्थात् उसी युधिष्ठिर ने संकट पाया, दैव का लिखा किसने मिटाया है!

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने जिन पहेलियों की रचना की उनमें व्रज भाषा के साथ खालिस खड़ी बोली का व्यवहार किया गया।

विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में कबीर के लिखे पद्यों की भाषा देखिये—

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।"

इसी प्रकार अकबर के समकालीन गंग कवि ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक गद्य ग्रन्थ की रचना की जिसकी खड़ी बोली का नमूना इस प्रकार है—

"इतना सुनके पातसाहि जी श्री अकबरसाहि जी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह उर्दू नहीं, खड़ी बोली है। हाँ, साहित्य में

इसका व्यवहार अल्प था और दिल्ली राजधानी बनने के बाद शिष्ट समाज में इसका व्यवहार बढ़ा तथा इसमें साहित्य रचना भी होने लगी।

अब दूसरी भ्रान्ति पर दृष्टिपात करते हैं। जाँर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, आर० डब्यू० फ्रेज़र तथा नलिनीमोहन सान्याल आदि का मत है कि फोर्ट विलियम कालिज से खड़ी बोली-गद्य का आरम्भ हुआ। उनके कथनानुसार उक्त कालिज के अध्यापक लल्लू लाल और सदल मिश्र ने खड़ी बोली-गद्य को जन्म दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय उपर्युक्त मत से असहमत हैं। उनका कहना है कि फोर्ट विलियम कालिज से खड़ी-बोली गद्य का आरम्भ नहीं हुआ, उसकी परम्परा पर्याप्त पहिले की है। पद्य में प्राप्त खड़ी बोली के चिह्नों की ओर ऊपर संकेत किया ही जा चुका है, गद्य में भी इस प्रकार के चिह्न दिखलाना कठिन नहीं, अपितु निश्चय ही ऐसा किया जा सकता है। परन्तु यह बात तो केवल चिह्नों की हुई। फोर्ट विलियम की स्थापना से लगभग छः दशाब्दी पूर्व ही खड़ी बोली का गद्य प्रौढ़ व परिमार्जित रूप में और वह भी ग्रन्थ रूप में, लिखा जाना आरंभ हो गया था।

सन् १७४१ में पटियाला निवासी राम प्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ सुथरी खड़ी बोली में लिखा। अब तक पाई गई पुस्तकों में यह योगवासिष्ट ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और राम प्रसाद निरंजनी को खड़ी बोली का प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक माना जा सकता है। वास्तव में इस ग्रन्थ की भाषा बहुत श्रृंखलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

"केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से

मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अन्तः-करण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि बिना केवल तान से मुक्ति नहीं होती।''

इसके बाद सन् १७६१ में बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी पण्डित दौलत राम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्मपुराण का भाषानुवाद किया। इस की भाषा 'योगवासिष्ठ' की भाषा के समान परिमार्जित तो नहीं परन्तु शिष्ट समुदाय में प्रचलित खड़ी बोली के स्वाभाविक रूप का सुन्दर नमूना अवश्य है। एक उदाहरण लीजिये—

'जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक के समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठने के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अप्रैल सन् १९४० के विशाल भारत में सन् १७४० ('भाषा योग वासिष्ठ' का समय) के आस पास के कुछ पत्र छपवाये थे, जिनकी भाषा खड़ी बोली थी। इनसे उस समय की खड़ी बोली गद्य के रूप पर प्रकाश पड़ता है। एक नमूना इस प्रकार है—

"स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य फलाने को राम राम। आग हम तुम्हारी भलमानुष्य इस्किताबी फहव्वज सों हे तिस्वास्ते हम चता हे हैं यो तुम सों हर एक बाब का अखनास वारा इस वास्ते हम अपना फलाना आदमी किताब लेकर तमारे फलाना-नेकम के वास्ते भेजा हें।''

इन पत्रों की भाषा के आधार पर आचार्य द्विवेदी जी ने निम्न-लिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

१. हिन्दी उन दिनों राजकीय और अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। उसमें पत्र लिखने का ढंग सिखाया जाता था।

२. 'हिन्दुस्थानी' नाम अंग्रेजों का दिया हुआ नहीं है और न उस से उर्दू अर्थात् अरबी फारसी से प्रभावित भाषा का बोध हो सकता है।

३. उन दिनों विशुद्ध संस्कृत शैली में लिखे हुए पत्रों में अरबी और फारसी के व्यावहारिक शब्द निःसंकोच ग्रहण किए जाते थे।

४. यह कहना कि खड़ी बोली में गद्य लिखने का आरम्भ लल्लूलाल जी आदि ने अंग्रेजों की प्रेरणा से किया था, एक दम ग़लत है। बहुत पहले से ही खड़ी बोली में आज की हिन्दी के समान गद्य लिखा जाता था। वह व्यवहार की भाषा थी और विशुद्ध संस्कृत शैली में उस में पत्र लिखे जाते थे। (विशाल भारत, अप्रैल १९४०, पृष्ठ ३६७)।

इन निष्कर्षों से प्रस्तुत भ्रान्ति-निवारण के साथ इस बात का भी खण्डन होता है कि उर्दू के फारसी-अरबी-शब्द हीन रूप को खड़ी बोली कह कर गद्य में प्रयुक्त किया गया।

सन् १७८७ में रामचरन दास नामक एक लेखक का गद्य में ग्रन्थ मिलता है।

इस के अतिरिक्त फोर्ट विलियम कॉलिज की ओर से जब पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उस से दो-एक वर्ष पहले मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' तथा सैयद इंशा अल्लाखाँ अपनी प्रसिद्ध गद्य-रचनाएँ कर चुके थे।

इस प्रकार यह कहना कि फोर्ट विलियम कॉलिज ने खड़ी बोली गद्य का आरम्भ किया, सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाता है। कॉलिज के इस श्रेय के दावे को निराधार करने के लिये ऊपर जिस सामग्री का उल्लेख किया गया है उस से खड़ी बोली-गद्य की परम्परा का भी ज्ञान हो जाता है। सन् १८०० तक अंग्रेजी राज्य भारत में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रशासनिक कार्य को चलाने के लिये जिन अंग्रेजों

की नियुक्ति की जाती थी, उन्हें भारतीय भाषाओं एवं विद्याओं से परिचित कराना स्वाभाविक रूप से आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ४ मई सन् १८०० को भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना की। कॉलिज में हिन्दी-उर्दू विभाग का अध्यक्ष डा० जॉन बॉर्थविक गिल्क्राइस्ट को बनाया गया। उन्होंने हिन्दुस्तानी को 'दि ग्रैण्ड पॉपुलर स्पीच ऑफ हिन्दुस्तान' कहा; परन्तु वह हिन्दुस्तानी, जिसका प्रचार डा० गिल्क्राइस्ट ने करने की कोशिश की, न 'ग्रैण्ड' थी और न 'पॉपुलर'। उन की हिन्दुस्तानी अरबी-फारसी शब्दों से भरपूर थी तथा भारतीय भाषागत प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल थी। गिल्क्राइस्ट महोदय ने वास्तव में हिन्दुस्तानी के नाम से 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के प्रचार का प्रयत्न किया जिस में उन्हें सफलता न मिल पाई। व्यावहारिकता की दृष्टि से यह सदोष सिद्ध हुई। अतः तीन 'भाखा मुन्शी' नियुक्त हुए—लल्लूलाल, सदल मिश्र, गंगाधर शुक्ल। संस्कृत मिश्रित हिन्दी तब 'भाखा' कहलाती थी। इन लोगों ने, विशेषतः प्रथम दो ने, खड़ी बोली गद्य में कॉलिज के आदेशानुसार कुछ पुस्तकें लिखीं। ड० गिल्क्राइस्ट के चले जाने के बाद विलियम प्राइस आये और उन्हों ने अपनी भाषा नीति में 'भाखा' को स्वीकृत किया। प्राइस महोदय की नीति ही मान्य हुई तथा अन्त तक वही चलती रही। २ फरवरी सन् १८५४ को सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार यह कालेज तोड़ दिया गया।

इस प्रकार इस काल में खड़ी बोली गद्य को एक साथ बढ़ाने वाले चार महानुभाव हुए— मुन्शी सदासुख लाल 'नियाज़', सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों प्रायः समकालीन थे और सन् १८०३ के आस पास विद्यमान थे। इन में से प्रथम दो स्वतंत्र लेखक थे और शेष दो कालिज के कार्यकर्ता।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' (सन् १७४६ - १८२४) दिल्ली के निवासी थे। भगवद्भक्त मुंशी जी ने 'विष्णु पुराण' से उपदेशात्मक

प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी जिस की भाषा का नमूना इस प्रकार है—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका, (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये, और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए।"

यह हिन्दुओं की बोलचाल की शिष्ट भाषा है न कि कालिज नीति का अनुसरण करने वाली उर्दू-बोझिल भाषा। मुन्शी जी ने स्थान स्थान पर जो शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग किया उसमें भाषा के भावी साहित्यिक रूप का पूरा आभास मिलता है।

सैयद इंशा अल्ला खाँ (सन् १७६४-१८१७) उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे और दिल्ली उजड़ने के बाद लखनऊ चले आये थे। सन् १८००-१८०८ के बीच उन्होंने "उदय भान चरित या रानी केतकी की कहानी" लिखी 'जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले', 'बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो' तथा 'हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इन चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। कई स्थानों पर तो इन्होंने बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है। इन की चलती भाषा का नमूना देखिये—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो। तुमने अभी कुछ देखा नहीं।"

लल्लूलाल जी (सन् १७६१-१८२४) आगरा के रहने वाले गुजराती

ब्राह्मण थे। सन् १८०३ में गिल्काइस्ट महोदय के आदेशानुसार उन्होंने 'प्रेमसागर' की रचना की जिसकी भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी ब्रजरंजित खड़ी बोली है। विरामों पर तुकबन्दी है और अनुप्रासों का प्रयोग है। मधुर, सरस और सरल होने के साथ साथ अलंकृत और कवित्वमय भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमसागर के गद्य को 'काव्याभास गद्य' नाम दिया है। नमूना देखिये—

"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हायन्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, ताँडव नाच-नाच, संगीत शास्त्र की रीति गाय-गाय लगे रिझाने।"

'प्रेमसागर' के अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल', 'राजनीति' आदि कुल ११ पुस्तकें लिखीं। परन्तु हिन्दी गद्य के विकास में महत्त्व 'प्रेमसागर' का ही है। वे संस्कृत न जानते थे, किन्तु उर्दू, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, के अच्छे जानकार थे।

सदल मिश्र (सन् १७६८-१८४८) बिहार (आरा जिला) के निवासी थे। कॉलिज के आदेश पर उन्होंने भी सन् १८०३ में ही 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की परन्तु लल्लूलाल के विपरीत उन्होंने व्यावहारिक खड़ी बोली का प्रयोग किया है, तथापि उसमें ब्रजभाषा के तथा पूर्वी शब्द थोड़े-बहुत आ ही गये हैं,। नमूना देखिये—

"इस प्रकार नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इन का जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं।"

खड़ी बोली-गद्य के उपर्युक्त चार उन्नायकों में से आधुनिक हिन्दी

का पूरा-पूरा आभास मुन्शी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। इन दो में भी मुन्शी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। सबसे पहले, इन चारों में से लेखनी भी उन्होंने चलाई। अतः गद्य प्रवर्त्तकों में उनका स्थान विशेष ठहरता है।

इस काल में गद्य का प्रारम्भ तो हुआ पर उस की साहित्यिक परम्परा अखण्ड रूप में आगे न चल सकी। उसके बाद सन् १८५७ की जनक्रान्ति-के उपरान्त यह परम्परा पुनर्जीवित हुई। पाँच दशाब्दियों के इस मध्य-वर्ती समय में ईसाई धर्म प्रचारकों की हिन्दी-रचनाएँ सामने आईं।

ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी खड़ी बोली गद्य के विकास में काफी भाग लिया परन्तु उनके इस कार्य के मूल में धर्म-प्रेम की भावना काम कर रही थी, न कि हिन्दी-प्रेम की। सिरामपुर (बंगाल) उस समय इन का प्रधान केन्द्र था। वहाँ से 'नए धर्म नियम' के नाम से 'न्यू टेस्टामेण्ट' का देवनागरी रूपान्तर हेनरी मार्टिन ने सन् १८१७ में किया। इसके अतिरिक्त जे०टी० टाम्सन कृत 'दाऊद के गीतें (१८३६), जान क्योर कृत 'ईश्वरोक्त विचारधारा' (१८४६), 'सन्त मत निरूपण' (सन् १८४८), 'पाल का चरित्र' (सन् १८५८) 'वेदान्त विचार' (सन् १८५३) आदि धर्म पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुख-लाल की उर्दू मुक्त तथा व्रजभाषा से प्रभावित हिन्दी का ही प्रयोग किया। उन की भाषा की बानगी देखिये—

"उन्हीं दिनों में जब ईश्वर अपने शास्त्र का प्रकाश करता था वे लोग आज्ञा के विरुद्ध चल के सोने के बछरू बना के पूजने लगे। तब ईश्वर उन पर क्रुद्ध हुआ और उसी दिन उनमें से तीन सहस्र मारे गये।"

हिन्दी में शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें सबसे पहले इन्हीं लोगों ने तैयार कीं। सन् १८३३ में आगरा में इन्होंने 'स्कूल बुक सोसायटी' की स्था-पना की जिसने सन् १८३७ में इंगलैण्ड के एक इतिहास का और मार्शमैन के 'प्राचीन इतिहास' का अनुवाद 'कथासार' (अनुवादक

पं० रतनलाल) नाम से किया जिसकी भाषा विशुद्ध और पण्डिताऊ थी। आगरा की उक्त सोसायटी के समान ही कलकत्ता में भी एक सोसायटी खुली जिससे खड़ी बोली गद्य में लिखित अनेक शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

ईसाइयों के धर्म प्रचार की इस लगन को देखकर हिन्दुओं के सामाजिक संगठनों ने चिन्तित होकर स्वधर्म प्रचार का प्रयत्न करने के लिये खड़ी बोली गद्य में ग्रन्थ-रचना की जिससे हिन्दी गद्य के विकास में सहायता मिली। ऐसे संगठनों में 'ब्रह्मसमाज' और 'आर्य-समाज' का नाम आता है जिन के संस्थापकों--राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द--ने हिन्दी गद्य में महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। राजा राममोहनराय ने 'बंगदूत' (१८२६) नामक हिन्दी-पत्र निकाला जिसकी भाषा इस प्रकार की थी--

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन हीन मनुष्यों का स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

स्वामी दयानन्द ने गुजराती होते हुए भी हिन्दी में अपने ग्रन्थों की रचना की। वस्तुतः सबसे पहले उन्हों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा। सन् १८६३ से उन्होंने अनेक शहरों में घूम घूम कर व्याख्यान देना प्रारंभ किया। उन्होंने अपना सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में रचा। 'सत्यार्थ प्रकाश' उनका प्रसिद्ध हिन्दी-ग्रन्थ है जिसकी भाषा का एक नमूना इस प्रकार है—

"जो संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ दिखा युद्ध करते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न

हो किन्तु कभी कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने छिप जाना उचित है क्योंकि जिस प्रकार से शत्रुओं को जीत सके वैसा काम करें जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है वैसे मूर्खता से नष्ट भ्रष्ट न हो जावें।"

समाचारपत्रों ने भी खड़ी बोली गद्य के विकास में उल्लेखनीय भाग लिया। कानपुर निवासी पं० जुगल किशोर शुक्ल ने ३० मई १८२६ को कलकत्ता से 'उदन्तमार्त्तण्ड' नामक पत्र प्रारंभ किया जो हिंदी का प्रथम समाचार पत्र था। इसके बाद 'बंगदूत' (१८२६), 'प्रजा मित्र' (१८३४),'बनारस अखबार'(१८४४),'समाचार सुधावर्षण' (१८५४) 'प्रजा हितैषी' (१८५५), 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका (१८६५), 'कविवचन सुधा' (१८६७), 'अलमोड़ा अखबार' (१८७०) आदि अनेक पत्रों का प्रारंभ हुआ। 'समाचार सुधा वर्षण' के गद्य का नमूना देखिये—

"यह सत्य हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा जल्दी बाँच सकता नहीं। चार पाँच आदमी लोग इकट्ठा बैठ के ममा, टटा, धधा, डडा कहिके फेर 'मिट्टी का घड़ा' बोल के निश्चय करते हैं। क्या दुःख की बात है।"

समाचार पत्रों की भाषा में परिमार्जन का अभाव हो सकता है, परन्तु इतना निश्चित है कि जनता उस भाषा को खूब समझती थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि फोर्ट विलियम कॉलिज की भाषा-नीति उर्दू के पक्ष में थी तथा जनसाधारण में सदासुखलाल वाली स्वाभाविक खड़ी बोली का प्रचार था जो हिंदुओं की बोलचाल की शिष्ट भाषा थी। इस प्रकार सरकार का झुकाव उर्दू की ओर था। सर सैयद अहमद खाँ अँग्रेजों के कृपापात्र थे। वे हिंदी को गँवारी बोली कह कर उसे शिक्षा के क्षेत्र से बाहर रखना चाहते थे। हिंदुओं को 'बुतपरस्त' कह-कर तथा इस्लाम और ईसाइयत की पैगम्बरवादी

समानता दिखाकर उन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न किया। पेरिस में हिंदी-उर्दू के अध्यापक गार्सा द तासी को भी उन्होंने अपने साथ कर लिया। जॉन बीम्स जैसे प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ने भी उनका साथ दिया। परन्तु एफ़० एस० ग्राउज़ ने हिंदी का पक्ष लेकर उर्दू का विरोध किया और 'प्रेमसागर' की भाषा शैली को पसन्द किया। इस प्रकार हिंदी और उर्दू के विरोध की रूपरेखा स्पष्ट हो रही थी और जब अदालतों के लिये एक बार हिंदी को स्वीकार कर उसे हटा दिया गया एवं उसके स्थान पर पुनः उर्दू को रख दिया गया तब तो हिंदी उर्दू का विरोध पूरी तरह सामने आगया। ऐसी अवस्था में हिंदी गद्य के रंगमंच पर दो महान् विभूतियों का उदय हुआ—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह।

हिन्दी गद्य के इतिहास में राजा शिव प्रसाद अपनी अरबी फारसी युक्त हिन्दी-नीति के लिये प्रसिद्ध हैं। वास्तव में राजा शिव प्रसाद संस्कृत प्रधान स्वाभाविक खड़ी बोली के पक्ष में थे। उनकी प्रारंभिक कृतियों की भाषा इसी प्रकार की है। 'मानव धर्म सार' की भाषा का नमूना देखिये—

"मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनु जी ने जो कुछ कहा है उसे जीव के लिए औषधि समझना।"

'राजा भोज का सपना' की भाषा भी इसी प्रकार की है। अपनी सम्पूर्ण पुस्तकों के नाम भी उन्हों ने संस्कृत गर्भित रखे। अरबी-फारसी शब्दों से बोझिल भाषा वाली पुस्तक 'इतिहास तिमिर नाशक' शीर्षक की दृष्टि से राजा शिव प्रसाद के संस्कृत-हिन्दी प्रेम को ही सूचित करती है। अतः उनके संस्कृत-हिन्दी प्रेम में सन्देह न करना उचित ही होगा। परन्तु जिस भाषा-नीति के वे बाद में पोषक बन गये उसके

साथ उनके उक्त प्रेम की संगति बैठाना कठिन प्रतीत होता है। वास्तविकता यह थी कि राजा शिव प्रसाद शिक्षा-विभाग के कर्मचारी थे। शिक्षा में उर्दू का बोल बाला था। सर सैयद अहमद खाँ जैसे प्रभावशाली मुसलमानों के हिन्दी-विरोध की चर्चा की ही जा चुकी थी। राजा साहब हिन्दी के प्रेमी थे और हिन्दी को शिक्षा विभाग में स्थान दिलाना चाहते थे। अतः उन्होंने मध्य मार्ग अपनाया। संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल उर्दू-शब्दों को लेना उन्हों ने श्रेयस्कर समझा, परन्तु लिपि उन्हों ने नागरी ही रखी। लेकिन लोगों ने उन्हें फारसी अरबी-शब्दों से बोझिल भाषा नीति का समर्थक समझ कर उनका विरोध करना शुरु कर दिया। यह स्थिति देखकर राजा शिवप्रसाद कट्टर उर्दू पंथी बन गये। 'इतिहास तिमिर नाशक' की भाषा में उर्दू शब्दों की भरमार ही है। नमूना देखिये—

"तुग़लक का भाई मसऊद खाँ निहायत हसीन था बग़ावत का शुबहा हुआ पूछने पर डकूबत और सियासत के डर से झूठा इकरार कर दिया।"

राजा शिवप्रसाद की अन्य पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—'आलसियों का रोड़ा', 'वर्णमाला', 'स्वयं बोध उर्दू', 'वामा मनरंजन' 'भूगोल हस्तामलक', 'सिक्खों का उदय और अस्त'।

राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत गर्भित एवं सरल हिन्दी का पक्ष लेकर राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति का विरोध किया। वे मौलिक साहित्यकार न थे अपितु राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति का विरोध करने के लिये उन्होंने 'शंकुतला' (१८६१), 'रघुवंश' (१८७८) और 'मेघदूत' का अनुवाद कर अपनी भाषा-नीति को जनता के सामने रखा। इससे पहले राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अखबार' (१८४४) के विरोध में इन्हों ने आगरा से 'प्रजा हितैषी' (१८५५) पत्र का प्रकाशन किया था। 'शकुन्तला' की हिन्दी बहुत सरस और विशुद्ध है। नमूना इस प्रकार है—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो?"

दोनों राजाओं की भाषा शैली परस्पर विरोधी है। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी-उर्दू को मिलाने का यत्न किया परन्तु राजा लक्ष्मण सिंह ने दोनों को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् भाषाएँ स्वीकार किया। हिन्दी-उर्दू का संघर्ष चलता रहा। सरकार का झुकाव उर्दू की ओर रहा। सरल हिन्दी के समर्थकों में राजा लक्ष्मण सिंह के अतिरिक्त नवीन चन्द्र राय और श्रद्धाराम फुल्लौरी नामक दो हिन्दी प्रेमी पंजाब में शुद्ध हिन्दी के प्रचार में व्यस्त थे। पंजाब के शिक्षा क्षेत्र में उस समय शुद्ध हिन्दी के प्रचलन का श्रेय राय महाशय को है। इधर श्रद्धाराम फुल्लौरी जनता में पूरे उत्साह से हिन्दी के प्रचार में लगे हुए थे। 'सत्यामृत प्रवाह', 'आत्म-चिकित्सा', 'तत्वदीपक', 'धर्म रक्षा', 'उपदेशसंग्रह', 'शतोपदेश' उनकी लिखी हुई पुस्तकें हैं। इन दोनों की सेवाओं से पंजाब में हिन्दी की रक्षा हुई।

फ्रेडरिक पिन्काट नामक अंग्रेज ने भी हिन्दी के प्रचार में भाग लिया। उन्हों ने इंग्लैण्ड में बैठे बैठे हिन्दी साहित्य का परिचय वहाँ के निवासियों को दिया। वे भी शुद्ध हिन्दी के समर्थक थे। उनका हिन्दी और भारत के प्रति प्रेम उन्हें भारत खींच लाया परंतु लखनऊ में ७ फरवरी सन् १८६१ को उनका देहांत हो गया।

यह काल हिन्दी-गद्य का भाषा रूप की दृष्टि से संघर्ष काल था और उसका संघर्ष था उर्दू से। परन्तु राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी के असली स्वरूप का निर्देश कर दिया था। ऐसी अवस्था में एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उस रूप को स्वयं आगे

बढ़ाता और अन्य लोगों को भी उसे आगे बढ़ाने की प्रेरणा करता।
हिन्दी गद्य के सौभाग्य से ऐसा व्यक्ति मिल गया और वह था
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य को वह गति और शक्ति
दी कि हिन्दी-गद्य कुछ ही समय में बहुत वेग से विकास कर गया।
भारतेन्दु युग-निर्माता थे। उन्हों ने केवल स्वयं ही कार्य नहीं किया
अपितु औरों को भी कार्य करने की प्रेरणा दी। अतः हमारा आगामी
अध्ययन युग विभाजन पूर्वक होगा।

प्रथम उत्थान

(१८७३-१९००)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८४) प्रथम उत्थान के मुख्यतम
गद्य लेखक थे। उनकी 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', जिसका प्रारम्भ १८७३ से
हुआ, के द्वारा इस युग का सूत्रपात होता है। आठ अंकों के बाद इसका
नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति,
पुरातत्त्व, आलोचना, नाटक, कविता, गद्य, हास्य और व्यंग्य से सम्बन्धित
विषयों के लेख इस पत्रिका में प्रकाशित होते थे। दूसरे शब्दों में गद्य
के विविध रूपों का सूत्रपात इस युग में हो गया।

भारतेन्दु ने, सर्वप्रथम, गद्य की भाषा को परिमार्जित किया अतः वे
वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गये। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-
सामान्य रूप उन की लेखनी से ही प्रकट हुआ। वास्तव में उनकी भाषा
के अनेक रूप हैं। जनता में हिन्दी प्रचार को लक्ष्य बना कर उन्होंने
अपनी जिस भाषा का स्वरूप निर्धारित किया उस में तद्भव और देशज
शब्दों के साथ सभी कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग किया,
परन्तु उन्हें साहित्य के साँचे में ढालकर। नमूना देखिये—

"हे स्त्री देवी ! संसार रूपी आकाश में गुब्बारा (बैलून) हो
क्योंकि बात बात में आकाश में चढ़ा देती हो, पर जब धक्का

दे देती हो तब समुद्र में डूबना पड़ता है अथवा पर्वत के शिखरों पर हाड़ चूर्ण हो जाते हैं।"

साहित्यिक सौन्दर्य से पूर्ण संस्कृत प्रधान भाषा के लिखने में भी वे सिद्धहस्त थे—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहे और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जन्मदाता हरिश्चन्द्र ही दुःखी हो?"

सामान्य रूप से शब्दचयन के प्रति उदार दृष्टि ही उनकी प्रतिनिधि भाषा का स्वरूप निर्धारित करती है। भाषा को सशक्त बनाने के लिये उन्होंने सब प्रकार के शब्दों को स्वीकार कर लिया। भारतेन्दु में हम दो प्रकार की शैली पाते हैं—भावावेश की शैली और तथ्यनिरूपण की शैली। भावावेश की शैली में वाक्य छोटे हैं तथा भाषा में सरस एवं बोल चाल की पदावली का प्रयोग मिलता है। तथ्यनिरूपण की शैली में वाक्य लम्बे हैं तथा भाषा संस्कृतगर्भित एवं गंभीर है। भारतेन्दु ने गद्य के अनेक रूपों में साहित्य रचना का कार्य किया तथापि वे मुख्य रूप से नाटककार और निबन्धकार ही थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र केवल व्यक्ति ही नहीं अपितु संस्था थे। वे युगनिर्माता थे। उन्होंने स्वयं तो साहित्य-रचना की ही, औरों को भी इसके लिये प्रेरित किया। पंडित प्रताप नारायण मिश्र, उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, और पंडित बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु मण्डल के मुख्य गद्यकार कहे जा सकते हैं। इन की शैली भारतेन्दु जी से प्रभावित होते हुए अपनी वैयक्तिक विभिन्नता लिये हुए हैं।

प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४) की भाषा, उनकी विनोदशील प्रकृति के अनुरूप स्वच्छन्द और चपल है। हास्य व्यंग्य तो उनकी

गद्यशैली का प्राण ही है। कहावतों और मुहावरों की वे बौछार ही कर देते हैं। उनकी भाषा में ग्रामीण भाषा का भी स्पर्श मिलता है। वस्तुतः वे जनभाषा के लेखक थे। मिश्र जी मुख्य रूप से निबन्धकार थे।

'प्रेमघन' (१८५५-१९२३) में भाषा का अलंकरण, कलम की कारीगरी और गद्य काव्य के पुराने ढंग की झलक देखने को मिलती है। लम्बे वाक्य और सानुप्रासता उनकी भाषा की अन्य विशेषताएँ हैं। 'आनन्दकादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' के सम्पादक के रूप में उन्होंने साहित्य का निर्माण किया। वे सम्पादक होने के साथ साथ नाटककार और समालोचक भी थे।

ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७—१८९९) की भाषा 'प्रेमघन' के अनुकरण पर ही है परन्तु जटिलता कम है। वे उपन्यासकार थे।

बालकृष्ण भट्ट (१८४४—१९१४) 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे। व्यंग्य प्रधान होते हुए भी उनकी भाषा गंभीर है। मुहावरों और लोकोक्तियों से वह मनोरंजक हो उठी है। शब्दचयन के विषय में भट्ट जी उदार थे। उन्होंने भाषा को सशक्त बनाने पर बल दिया। सम्पादक होने के साथ साथ वे निबन्धकार भी थे।

इन चार महानुभावों के अतिरिक्त पं० गोविन्द नारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त (१८६५—१९०७) भी इस काल के प्रसिद्ध लेखक थे। मिश्र जी अपनी पाण्डित्यपूर्ण शैली के लिये और गुप्त जी अपनी सरल व सुबोध शैली के लिये प्रख्यात हैं। उर्दू के विद्वान् गुप्त जी कुशल पत्रकार तथा निबन्धकार थे।

इसी प्रकार जिन अन्य लेखकों ने इस काल में साहित्य रचना की उनमें से सर्वश्री पंडित अम्बिकादत्त व्यास, देवकीनन्दन खत्री, राधाचरण गोस्वामी, कार्तिक प्रसाद खत्री, राजा रामपालसिंह, श्री निवासदास मुख्य हैं।

प्रथम उत्थान के गद्य-निर्माण में पत्रपत्रिकाओं का भी पर्याप्त हाथ था। पच्चीस पत्र-पत्रिकाएँ तो भारतेन्दु के जीवकाल में ही निकलीं

जिनमें 'बिहारबन्धु', 'भारतमित्र', 'भारतजीवन', 'उचित वक्ता', 'आर्यदर्पण', ब्राह्मण', और 'हिन्दी दीप' ने हिन्दी के बहुत दिनों तक सेवा की। इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से कहानी, नाटक, निबंध आदि विविध गद्य रूपों का प्रकाशन होता था।

गद्यरूपों के विकास की दृष्टि से इस काल में नाटकों का प्रथम स्थान है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर' नाटक का वंगला से हिंदी में अनुवाद कर सन् १८६८ में प्रकाशित किया। उन्होंने तो अधिकतर नाटक ही लिखे। प्रतापनारायण मिश्र और 'प्रेमघन' ने उनका अनुसरण किया। परन्तु नाटक लेखन का कार्य ज़ोर न पकड़ सका, यद्यपि रामकृष्ण वर्मा ने वंगला के नाटकों—'नारी,' 'पद्मावती', 'कृष्णकुमारी'—का हिन्दी उल्था कर इस परम्परा को चलाने की कोशिश की। श्रीनिवासदास का 'रणधीरसिंह प्रेम-मोहिनी' (१८७८) हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक है।

उपन्यासों का सूत्रपात इस युग में हुआ। श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' (१८७७) लिखा परन्तु हिन्दी का प्रथम मौलिक माना जाने वाला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' श्री निवासदास ने १८८२ में लिखा। ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' (१८७८) की रचना की। राधा कृष्ण दास ने 'निस्सहाय हिन्दु' और बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' लिखे। उपन्यासों के अनुवाद भी इस काल में बहुत हुए। सर्वश्री प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधरसिंह, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा उस काल के प्रमुख उपन्यास-अनुवादक थे। अनुवाद अधिकांश में बंगला से हुए। इन अनुवादों का अपना महत्त्व है; इनसे नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का अच्छा परिचय हो गया और उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

निबन्ध साहित्य का इस काल में अच्छा प्रचार हुआ। विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध लिखे गये जिनके

विषय अधिकतर राजनीति, समाजदशा, देशदशा, ऋतुछटा, जीवनचरित तथा जगत् एवं जीवन सम्बन्धी सामान्य बातें होती थीं। इस काल के अधिकांश लेखक निबन्धकार थे। वास्तव में नाटक, उपन्यास तथा निबन्ध का इस काल में सबसे अधिक प्रचार हुआ।

समालोचना का सूत्रपात बाल कृष्ण भट्ट तथा 'प्रेमघन' के सम्पादकीय एवं 'रिव्यू' सम्बन्धी लघुलेखों से हुआ। यह गद्य रूप इस काल में विकास न पा सका।

'काश्मीर कुसुम' (कल्हणकृत राजतरंगिनी का कुछ अंश) तथा 'बादशाह दर्पण' लिखकर इतिहास की ओर तथा जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनियों की ओर भी भारतेन्दु ने ध्यान आकृष्ट किया परन्तु इन की परम्परा आगे न चल सकी।

कुल मिलाकर यह काल खड़ी बोली गद्य का 'प्रयोग काल' कहा जा सकता है। भारतेन्दु ने अपने प्रयत्नों से खड़ी बोली गद्य के 'प्रस्तावकाल' को समाप्त कर दिया और गद्य को यथा-शक्ति गति दी। तथापि अभी बहुत कुछ किया जाना शेष था। हिन्दी गद्य का रूप स्थिर न हो पाया था। उसमें विस्तार तो था, परन्तु गहराई की कमी थी। व्याकरण के दोष मिलते थे और गद्य में कवित्व का पुट देने की प्रवृत्ति थी। अनुवादों के कारण साहित्य पर बंगला और अंग्रेजी का प्रभाव अधिक था।

द्वितीय उत्थान

(१९०० - १९३६)

द्वितीय उत्थान के प्रथम २० वर्षों (१९०० से १९२०) तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-गद्य पर असाधारण प्रभाव रहा। १९०० में प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ और १९०३ में द्विवेदी जी इसके सम्पादक बने। 'सरस्वती' के सम्पादक के

रूप में वे अपने समय के साहित्यिक नेता थे। भारतेन्दुकाल की मुख्य त्रुटियों - गद्य के रूप में स्थिरता का अभाव तथा भाषा के दोष—को दूर करने का सम्पूर्ण श्रेय द्विवेदी जी को है। उन्होंने भाषा को परिमार्जित और व्याकरण के अनुकूल बनाकर उस में एकरूपता का समावेश किया। विराम चिन्हों के प्रयोग तथा अनुच्छेद-प्रयोग पर बल दिया। प्रान्तीय शब्दों के स्थान पर सर्वजनबोध्य शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने हिन्दी गद्य को स्वच्छ, क्रमबद्ध, साहित्यिक और शुद्ध बनाने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' पत्रों के द्वारा हिन्दी गद्य की बहुत सेवा हुई। गद्य के विविध रूपों का भी १९२० तक थोड़ा बहुत विकास हुआ।

नाटकों में अनुवाद अधिक हुए, मौलिक नाटक कम लिखे गये। बंगला से सर्व श्री गोपाल राम गहमरी, रूपनारायन पाण्डेय; अंग्रेजी से सर्वश्री गोपी नाथ, मथुरा प्रसाद चौधरी; संस्कृत से सर्वश्री राय बहादुर लाला सीताराम, ज्वाला प्रसाद मिश्र, सत्यनारायण कविरान ने हिन्दी में नाटकों का अनुवाद किया। मौलिक नाटकों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के रुक्मिणी परिणय,' 'प्राद्युम्न विजय व्यायोग', बलदेव प्रसाद मिश्र के 'प्रभात मिलन' 'मीराबाई नाटक' 'लल्ला बाबू; शिवनन्दन सहाय के 'सुदामा नाटक' की गिनती की जा सकती है। परन्तु इन मौलिक नाटकों में ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों पर ध्यान दिया गया, सामाजिक और पारिवारिक प्रसंग अछूते ही रह गये।

उपन्यास के क्षेत्रों में बंगला, उर्दू मराठी, गुजराती, अंग्रेजी से अनुवाद किये गये पर अधिक संख्या बंगला अनुवादों की ही रही। बंगला के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखकों के उपन्यास अनूदित हो गये। मौलिक उपन्यासों में देवकी नन्दन खत्री ने तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास लिखे, किशोरी लाल गोस्वामी ने प्रेम सम्बंध और ऐतिहासिकों की रचना की; 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल', लज्जा राम मेहता ने 'धूर्त रसिक लाल', 'हिन्दू गृहस्थ' आदि; बृजनन्दन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त' उपन्यास लिखे।

कहानी का तो आरम्भ ही इस काल से मानना चाहिये। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (१९००) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती'' कहानी प्रकाशित हुई जो यदि किसी बंगला कहानी की छाया नहीं तो हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी ठहरती है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा, 'बंगमहिला', लाला पार्वतीनन्दन राजा राधिकारमरण प्रसादसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियाँ इस काल में प्रकाशित होने लगी थीं। जयशंकर 'प्रसाद' तथा प्रेमचन्द की कहानियाँ भी १९२० से पहिले प्रकाशित होने लग गईं थीं।

निबंधों का आरम्भ जिस उत्साह से हुआ था, उस उत्साह से इन का विकास इन बीस वर्षों में न हो पाया। आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त माधवप्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, बाबू गुलाबराय ने भी निबन्ध लिखे। मिश्र जी में 'प्रेमघन' की शैली, पूर्णसिंह में भावुकता तथा विचार के समन्वय के साथ लाक्षणिकता तथा बाबू गुलाबराय में सुबोधता के दर्शन होते हैं।

समालोचना का ग्रन्थाकार प्रकाशन इस समय प्रारम्भ हुआ। आचार्य द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में केवल दोष दर्शन, विक्रमांकदेव चरित और नैषधीय चरित की समीक्षा में विशेषताओं का उद्घाटन मिलता है। पर यह आलोचना परिचयात्मक ही रही, समालोचना के लिये समालोचना नहीं की गई। मिश्र बन्धुओं का 'नवरत्न' कवियों के इतिवृत्त का संग्रह होने के साथ-साथ समालोचना का भी ग्रन्थ है। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर आलोचना की, परन्तु ये सब रूढ़िगत समीक्षाएँ थीं।

इस प्रकार १९२० तक गद्य के बाह्य रूप तथा भाषा आदि के परिष्कार का कार्य होता रहा। इस के बाद भाषा के परिष्कृत हो जाने पर तथा हिन्दी-गद्य की रूप रेखा के अपेक्षाकृत स्पष्टतर हो जाने पर सौभाग्य से १९२० के बाद हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में तीन ऐसी महान्

विभूतियों का आगमन हुआ कि हिन्दी-गद्य ने डेढ़ दशी के स्वल्प काल में प्रगति एवं उन्नति का बहुत सा रास्ता तय कर डाला। द्वितीय उत्थान के इस उत्तरवर्ती काल (१९२०-१९३६) में प्रधानतया उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द, निबन्ध तथा समालोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तथा नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' सर्वातिशायी प्रभाव के साथ हिन्दी गद्य साहित्य के गगन में छा गये।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किया। अपनी समकालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को लेकर उन्हों ने अनेक उपन्यास लिखे जिनमें भाषा की मार्मिकता, भावाभिव्यंजना, यथार्थवादिता, सरलता एवं सुबोधता मिलती है। मानव मन तथा जीवन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण उनके उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यासकारों में 'प्रसाद' भी आते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में वृन्दावनलाल वर्मा ने, यथार्थवादी उपन्यास लिखने में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने, मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने में जैनेन्द्रकुमार ने तथा भावप्रधान उपन्यास लिखने में चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने अपनी लेखनी का प्रयोग किया।

कहानी साहित्य के मूर्धन्य लेखक भी प्रेमचंद ही हैं। विषय और शैली उपन्यासों वाली रही है। अन्य कहानीकारों में 'प्रसाद', जैनेन्द्रकुमार, सुदर्शन, 'हृदयेश', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'उग्र' के नाम मुख्य रूपेण लिये जा सकते हैं। विषय की दृष्टि से इस काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सभ्यता एवं संस्कृति सम्बंधी कहानियों की रचना हुई। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अधिकांश लेखक उपन्यासकार तथा कहानीकार दोनों ही हैं।

समालोचना में शुक्ल जी अग्रगण्य हैं। हिन्दी समालोचना को गौरवदान तथा सही मार्ग-प्रदर्शन का सम्पूर्ण श्रेय उनको है। अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा के द्वारा भारतीय तथा विदेशी समीक्षा सिद्धांतों के समन्वय को आधार बनाकर उन्होंने हिन्दी आलोचना को दिशा एवं

गति प्रदान की। उनकी सूर, तुलसी और जायसी की आलोचनाएँ अपने ढंग की अनूठी हैं। भाषा परिपुष्ट है। बाबू श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' समालोचना के सिद्धांतों का महत्त्वपूर्ण आधार-ग्रन्थ है। बाबू जी भी एक गहरी पकड़ वाले आलोचक थे। भाषा उनकी सरल और सुबोध रही है।

निबन्ध में भी शुक्ल जी का वही महत्त्व है जो समालोचना में। ईर्ष्या, क्रोध, उत्साह आदि भावों पर मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से जो निबन्ध उन्होंने लिखे, वे अनुपम हैं। 'चिन्तामणि' में उनके ऐसे निबन्धों का संकलन है। 'प्रसाद' ने गंभीर साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे। महाराजकुमार रघुबीरसिंह ने सुन्दर भावात्मक निबन्धों की रचना की।

नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' अग्रगण्य रहे। नाटककार के साथ वे कहानीकार, उपन्यासकार एवं निबन्धकार भी थे और कवि तो थे ही। परन्तु मूलतः वे कवि ही थे। इसलिये उनके गद्य में कवित्व का स्पर्श है, प्रकृति-वर्णन करते हुये तो उनका कवि हृदय अत्यन्त सजग हो उठता है। शैली में काव्यात्मकता, भावुकता,कल्पनात्मकता तथा माधुर्य के दर्शन होते हैं। 'प्रसाद' ने अधिकांश में ऐतिहासिक नाटक लिखे जिसमें भारत के अतीत स्वर्णिम युग की झाँकी दीखती है। उन्होंने नाटकों में पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य कला का समन्वित प्रयोग किया है। सर्वश्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' भी इस काल के अच्छे नाटककार हैं। मिश्र जी समस्या नाटकों के प्रवर्तक माने जाते हैं।

गद्य-काव्य का आरंभ भी इस समय में हुआ। रामकृष्ण दास तथा वियोगी हरि ने सुन्दर गद्य-काव्य की रचना की जिसमें भावनाओं की सुकुमारता, कल्पनाओं की कोमलता तथा भाषा का माधुर्य लक्षित होता है।

गद्य की प्रगति के इस सर्वेक्षण से प्रकट हो जाता है कि हिन्दी-गद्य ने द्वितीय उत्थान में अपने आधार को दृढ़ बनाकर आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर लिया। इस उत्थान काल के प्रथम बीस वर्षों को 'निर्माण काल' तथा पिछले सोलह वर्षों को 'विकास काल' कह सकते हैं। प्रस्ताव, प्रयोग, निर्माण तथा विकास की अवस्थाओं को पार कर सन् १९३६ के बाद से हिन्दी-गद्य विषय और शैली की दृष्टि से गहनता और विस्तार के पथ पर निरन्तर गतिशील है।

तृतीय उत्थान

वर्तमान प्रगति

(१९३६ से)

सन् १९३६ तथा १९३७ के सन्धिकाल में द्वितीय उत्थान के उत्तरार्ध की 'त्रिमूर्ति' भंग हो गई, 'प्रसाद' और प्रेमचन्द की लेखनी सदा के लिये विराम पा गई। इस महाद्वयी के अवसान के उपरान्त हिन्दी-गद्य के उपन्यास और कहानी के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण मूल्य-परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन की प्रेरणा का श्रेय भी एक 'त्रिमूर्ति' को है जिसमें **गाँधी, मार्क्स** और **फ्रायड** आते हैं। इन तीनों में भी पिछले दो व्यक्तित्वों ने हिन्दी-गद्य को बहुत प्रभावित किया। यदि गाँधी जी के प्रभाव को १९३७ तक सीमित माना जाय तो अधिक उचित होगा। तथापि उनका प्रभाव इसके बाद भी चलता रहा। मार्क्स के प्रभाव से **प्रगतिवाद** तथा फ्रायड के प्रभाव से **मनोविश्लेषणवाद** की धारा ने हिन्दी-गद्य को व्याप्त कर लिया। द्वितीय उत्थान की आदर्शवादिता तथा परम्पराप्रियता को इन दोनों धाराओं ने जड़ से हिला दिया।

प्रगतिवाद पर रूस की क्रान्ति का वहुत अधिक प्रभाव था। सन् १९३९ के द्वितीय महायुद्ध के तथा सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ने भारतीय जनता में विद्रोह और क्रान्ति की भावना भर दी जो प्रगतिवादी साहित्य में भली भाँति मुखरित हुई है। इसी प्रकार मनोविश्लेषण के सिद्धांतों ने भी साहित्य पर बहुत प्रभाव डाला। प्राचीन परम्पराएँ तथा मान्यताएँ भी साथ-साथ चल रही थीं। समय की माँग ने कुछ अन्य नई प्रवृत्तियों के जन्म तथा विकास को प्रेरित किया। इस प्रकार वर्तमान दशा में हिन्दी-गद्य का बहुमुखी विस्तार हो रहा है जिसमें पर्याप्त गंभीरता भी दृष्टिगोचर होती है।

नाटक के क्षेत्र में सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की समस्याओं पर नाटक लिखे गये और लिखे जा रहे हैं। ध्वनि रूपक, रेडियो रूपक, एकपात्री नाटक, भाव नाट्य, गीति नाट्य, समस्या नाटक आदि अनेक विधाएँ सामने आ रही हैं। एकांकी लिखने का प्रचलन वहुत बढ़ गया है।

उपन्यासों के क्षेत्र में सामाजिक के अतिरिक्त मनोविश्लेषणात्मक, साम्यवादी, अतियथार्थवादी, राष्ट्रीय, आँचलिक, ऐतिहासिक आदि अनेक धाराओं का जन्म तथा विकास हुआ है। प्रयोगशील उपन्यासों की रचना भी हो रही है।

कहानी के क्षेत्र में तो हिन्दी-गद्य की उन्नति सराहनीय रही है। नवीन विषयों पर नवीन शिल्प में कहानी लिखने के प्रयोग किये जा रहे हैं।

निबन्ध के अन्दर आलोचनात्मक निबन्धों की अधिकता दिखाई दे रही है। तथापि भावुकता प्रधान, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक निबंधों की भी रचना हो रही है।

आलोचना में नये मानदण्ड आ गये हैं। ऐतिहासिक, समाजवादी, मनोविश्लेषणात्मक और प्रभाववादी आलोचनाओं का विकास हो रहा है।

इन गद्य-रूपों के अतिरिक्त गद्य-काव्य, संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी-आत्मकथा, रिपोर्ताज़, इन्टरव्यू, पत्र और डायरी, लघुकथा आदि अनेक गद्य-रूपों का विकास हो रहा है।

वर्तमान प्रगति की धारा अभी जीवित है, अतः स्वभावतः उसके विषय में अभी कोई ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं बन पाया। हिन्दी-गद्य के विकास में उसके योगदान का मूल्यांकन अभी नहीं किया जा सकता, केवल पर्यवेक्षण के द्वारा ही संतोष करना पड़ेगा।

हमने हिन्दी-गद्य के विकास को अब तक प्रवाह रूप में देखा है। यह प्रवाह कितना प्राचीन, गतिशील और जीवन्त है, यह स्पष्ट हो ही गया है। अब हम हिन्दी-गद्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी आदि—के विकास का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का विकास

हिन्दी उपन्यास

अध्ययन की सुविधा के लिये हिन्दी-उपन्यास के विकास को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रथम उत्थान (१८८२—१९१८)

(२) द्वितीय उत्थान (१९१८—१९३६)

(३) तृतीय उत्थान(१९३६ से)

प्रथम उत्थान

हिन्दी में उपन्यासों का आरंभ जनता के मनोरंजन के उद्देश्य से हुआ था। इसलिये आरम्भ में जो उपन्यास लिखे गये उनसे परिष्कृत रुचि का परिचय नहीं मिलता। उस युग में उपन्यास-पाठकों की तीन श्रेणियाँ थीं—(क) वे पाठक जो हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि विविध विषयों तथा भाषाओं की शिक्षा प्राप्त किये हुए थे, (ख) वे पाठक जो संस्कृत के ज्ञाता थे परन्तु जिनका हिन्दी का ज्ञान सीमित था, (ग) वे पाठक जो थोड़ी बहुत हिन्दी जानते थे। इस तीसरी श्रेणी के पाठकों ने हिन्दी में उपन्यासों का स्वागत किया। उस समय उपन्यास-पठन हीन रुचि का परिचायक था। साहित्यकार के लिये भी उपन्यास-रचना प्रशंसनीय कार्य न माना जाता था क्योंकि उपन्यासों में गंभीर जीवन-दर्शन का अभाव था। अतः प्रारंभ में घटना प्रधान उपन्यास अधिक लिखे गये। कुछ उपन्यासों का सम्बन्ध इतिहास से भी जोड़ा गया

परन्तु ऐतिहासिकता उनमें केवल नाम मात्र को थी। ऐसे उपन्यासों के प्रेरणा स्रोत तीन थे—(क) संस्कृत साहित्य की आख्यायिकाएँ, (ख) 'अरेबियन नाइट्स' के ढंग पर लिखी गईं उर्दू फारसी की कहानियाँ, तथा (ग) अंग्रेज़ी के उपन्यास। कुछ वास्तविक घटनाओं के, आधार पर भी कल्पना प्रधान उपन्यासों की रचना की गई। वास्तव में हिन्दी-उपन्यास का आदि काल उसका प्रयोग काल है जिसमें मुख्य रूप से तीन प्रकार के उपन्यास लिखे गये—सामाजिक, कल्पना प्रधान और भावात्मक।

सामाजिक उपन्यासों में श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' (१८८२) हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। लेखक ने इसमें प्रेम और शृंगार की संकुचित सीमा से निकल कर जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी प्रकाश डाला है। इसमें दिल्ली के एक सेठ की कहानी है जो बाहरी तड़क-भड़क में भूल कर अपनी सम्पत्ति गँवा बैठता है तथा भिखारी बन जाता है। इसमें खरे अनुभव हैं किन्तु नैतिक उपदेशों के समावेश के कारण उपन्यास-कला की उपेक्षा हुई है। बालकृष्ण भट्ट ने छात्रों को सदाचार की शिक्षा देने के लिये 'नूतन ब्रह्मचारी'(१८८६) तथा सत्संग और कुसंग का परिणाम दिखाने के लिये 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९१) की रचना की। 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) लिखा जो भाषा का दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। लज्जाराम मेहता के 'धूर्त रसिक लाल' और 'स्वतन्त्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' १८९९ में निकले। 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श हिन्दू' उनकी अन्य रचनायें हैं। ठाकुर जगमोहन सिंह इससे पहले 'श्यामा स्वप्न' (१८८५) लिख चुके थे।

कल्पना प्रधान उपन्यासों के मुख्य प्रकार दो थे—तिलस्मी, जासूसी। तिलस्मी उपन्यास देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखे गये। उन्होंने चमत्कार पर बहुत बल दिया और मनोरंजन को ही प्रधान

माना । जीवन की व्यापकता उनके उपन्यासों में नहीं मिलती । तिलस्म (जादू) के खेल और ऐयारों (धूर्त, कपटी) की उछल-कूद इनमें मिलती है । ये उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए तथा लोगों ने केवल इनको पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी । खत्री जी ने 'चन्द्रकान्ता' (४ भाग), 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (२४ भाग), 'नरेन्द्रमोहिनी' (४ भाग) और 'भूतनाथ' (१८ भाग) नामक उपन्यास लिखे । इनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी ऐसे उपन्यास लिखे परन्तु उनमें शृंगार के स्थान पर वीरता की प्रधानता है ।

जासूसी उपन्यासों की प्रेरणा अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासों से मिली । गोपालराम गहमरी मुख्य लेखक थे । उन्होंने लगभग १५० जासूसी उपन्यास लिखे । 'बेकसूर की फाँसी', 'खूनी कौन है ?' आदि उनके कुछ उपन्यास हैं । घटनाओं की क्रमबद्धता इनकी मुख्य विशेषता है ।

कल्पना प्रधान उपन्यासों का तीसरा रूप है, सामाजिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित प्रेम वृत्तान्त । किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐसे ही उपन्यास लिखे । उनके कुल उपन्यास ६५ के लगभग हैं जिनमें 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'लवंगलता', 'सुखशर्वरी', 'तारा' आदि मुख्य हैं । इन में चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया गया है । आदर्शवादिता और प्रेम की प्रधानता इनकी अन्य विशेषताएँ हैं । गोस्वामी जी उपन्यास को 'प्रेम का विज्ञान' मानते थे । सामाजिक क्षेत्रों में तो उन्हें सफलता मिली परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में वे विफल रहे क्योंकि इनमें उन्होंने इतिहास को कल्पना की वेदी पर बलि दे दिया है ।

भावात्मक उपन्यासों में ब्रजनन्दन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' की रचना की । अलंकृत भाषा, लम्बे वाक्य, भावात्मकता, कथासौष्ठव का अभाव आदि इनकी विशेषताएँ हैं । इनको 'कादम्बरी' का आधुनिक रूप माना जा सकता है ।

इस काल में अनुवादों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। बंगला से 'स्वर्णलता', 'दुर्गेशनन्दिनी' आदि, अंग्रेज़ी से 'टाम काका की कुटिया' तथा मराठी से हरिनारायण आप्टे की रचनाएँ अनूदित हुईं।

उपन्यास सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी इस काल की अन्य उल्लेखनीय वस्तु है। 'उपन्यास' (१९०१), 'उपन्यास लहरी' (१९०२), 'उपन्यास सागर' (१९०३), 'उपन्यास प्रचार' (१९१२) ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं।

इस प्रकार प्रथम उत्थान में अर्थात् प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यासों का रूप स्थिर न हो सका। विषय में व्यापकता न थी, चरित्र-चित्रण भी अत्यन्त सामान्य ही था तथा भाषा एक ओर तो अत्यन्त संस्कृत प्रधान तो दूसरी ओर उर्दू से बोझिल थी। समाज सुधार, पश्चिमी सभ्यता की आलोचना, भारतीय संस्कृति एवं भारतीय नारी के गौरव की स्थापना इस काल के उपन्यासों का उद्देश्य रहा। इस काल के उपन्यासों का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इनके द्वारा जनता हिन्दी की ओर आकृष्ट हुई।

द्वितीय उत्थान

इस काल में प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास के लिये अत्यन्त शुभ और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उनके 'सेवासदन' ने हिन्दी उपन्यास के विकास में नये युग की घोषणा की। प्रेमचन्द ने निम्न-लिखित उपन्यास लिखे—'वरदान' (१९०२), 'प्रतिज्ञा' (१९०५-०६), 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९१४), 'निर्मला' (१९१७), 'कायाकल्प' (१९२८), 'गबन' (१९३०), 'कर्मभूमि' (१९३२), 'गोदान' (१९३६) और 'मंगल सूत्र' (अपूर्ण)।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांधीयुग के भारत की सामाजिक और राजनीतिक दशा का सूक्ष्म तथा व्यापक चित्र मिलता है। उनके

उपन्यासों के, इस दृष्टि से, दो वर्ग स्पष्ट रूप से बनाये जा सकते हैं— १. सामाजिक, २. राजनीतिक। सामाजिक उपन्यासों में 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' आदि की तथा राजनीतिक उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', 'गोदान', आदि की गणना की जा सकती है। सामाजिक उपन्यासों में विधवा-समस्या वेश्या-समस्या, दहेज, बालविवाह, वृद्धविवाह आदि प्रश्नों का विवेचन किया गया है तथा उनका आदर्शात्मक समाधान प्रस्तुत किया गया है जिसमें व्यावहारिकता की कमी है। राजनीतिक उपन्यासों में हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक वैमनस्य, सरकारी अफसरों तथा राजा महाराजाओं की जन आन्दोलनों के प्रति गद्दारी, अंग्रेज़ों की कूटनीति आदि पर प्रकाश डाला गया है।

आदर्श और यथार्थ का समन्वय प्रेमचन्द की प्रमुख विशेषता है। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे हैं परन्तु जहाँ कहीं भी यथार्थ और आदर्श में संघर्ष उपस्थित होता है वहाँ आदर्श की ही विजय होती है। तथापि पीछे आकर वे आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक झुक गये थे। सड़क कूटते हुए जहाँ होरी दम तोड़ता है वहाँ वास्तव में प्रेमचन्द का आदर्शवाद दम तोड़ता है। 'मंगलसूत्र' यदि पूर्ण हो जाता तो बहुत संभवतः प्रेमचन्द उसमें घोर यथार्थवादी के रूप में दिखाई पड़ते।

प्रेमचन्द ने सबसे पहले उपन्यास को कोरे उपदेश और मनोरंजन के क्षेत्र से निकाल कर उसे जनजीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उन्होंने मनोवैज्ञानिक आधार पर चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द ने कतिपय ऐसे महान् चरित्रों की सृष्टि की जो अपने वर्ग के प्रतिनिधि बन कर आये हैं। उन चरित्रों की कहानी वास्तव में उनके वर्ग की, उनके समाज की कहानी है। प्रेमचन्द की यह वर्गगत चरित्र-चित्रण की विशेषता उनसे पहिले के किसी उपन्यासकार में तो है ही नहीं, उनसे बाद के भी किसी उपन्यासकार में दिखाई नहीं देती।

इन्हीं विशेषताओं के कारण प्रेमचन्द को 'उपन्यास-सम्राट्' की उपाधि मिली।

प्रेमचन्द-काल में अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे गये—

(१) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास।
(२) प्रकृतवादी उपन्यास।
(३) रोमानी (रोमाण्टिक) उपन्यास।
(४) ऐतिहासिक उपन्यास।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास लिखने में प्रेमचन्द का अनुकरण हुआ। प्रेमचन्द के समकालीन अनेक लेखकों ने इस प्रकार के उपन्यासों की रचना की। इन लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी मुख्य हैं। 'कौशिक' ने 'माँ' (१९२७) और 'भिखारिणी' की रचना की। 'माँ' के व्यक्तित्व का बच्चों पर असर दिखलाने के लिये 'माँ' की रचना हुई। 'भिखारिणी' में एक अनाथ और गरीब स्त्री के तेजस्वी चरित्र को उपस्थित किया गया है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' (१९२८) भी एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें तीन परिवारों की कथा है और इसकी समाप्ति आदर्श में हुई है। चतुरसेन शास्त्री ने नारी समस्या को लेकर 'हृदय की प्यास' (१९३२), 'अमर अभिलाषा' आदि की रचना की। 'हृदय की प्यास' में आधुनिक नारी के वैवाहिक जीवन की तथा परस्त्री प्रेम की समस्या का वर्णन है जिसका समाधान आदर्शपूर्ण रहा है। 'अमर अभिलाषा' में विधवाओं की समस्या है। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' (१९३३), 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४), 'नारी' (१९३७) में नारी जीवन की मृदु भावनाओं का चित्रण है। इनमें पाठक को स्नेहभीनी सात्विक कोमलता के दर्शन होते हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६), 'अनाथ पत्नी' (१९२८),

'त्यागमयी' (१९३२) तथा 'प्रसाद' का 'कंकाल' (१९२०) भी ऐसे ही उपन्यास हैं।

प्रकृतवादी उपन्यासों की रचना प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिक्रिया में हुई। प्रकृतवाद को अंग्रेज़ी में 'नैचुरलिस्टक रियलिज़्म' कहते हैं। इसमें नग्न यथार्थवाद का चित्रण होता है। ऐसे उपन्यासों का कथानक यौन सम्बन्धी समस्याओं पर केन्द्रित रहता है, इनमें वासना का खुला प्रदर्शन होता है। इनमें नगर के वेश्यालयों के नारकीय कृत्य, विधवाश्रम, अनाथालय आदि के व्यभिचार, चोर उचक्के, पियक्कड़ और सफेदपोश नौकरीपेशाओं की घृणित मनोवृत्ति का चित्रण किया गया है। 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल' (१९२८), 'बुधुआ की बेटी' (१९२८), 'शराबी' आदि; ऋषभचरण जैन का 'पर्दाफरोश', चतुरसेन शास्त्री का 'व्यभिचार' इसी कोटि की रचनाएँ हैं। ऋषभचरण जैन तथा चतुरसेन शास्त्री पहले प्रेमचन्द के अनुयायी थे परन्तु आगे चलकर इन्होंने उनसे उलटा रास्ता अपना लिया। विषय की इस निन्दनीयता के होते हुए भी इन उपन्यासों की भाषा और शैली के ओज और चमत्कार से प्रभावित होना पड़ता है।

रोमानी (रोमाण्टिक) उपन्यासों की रचना भी प्रतिक्रियाजन्य थी। प्रेमचन्द के आदर्शवादी तथा इतिवृत्तात्मक शैली के उपन्यासों की प्रतिक्रिया का दूसरा रूप रोमानी उपन्यासों के जन्म में व्यक्त हुआ। इन उपन्यासों में रमणीय तथा अद्भुत तत्त्वों की प्रधानता थी। स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को अपना कर इन उपन्यासों की रचना हुई। 'प्रसाद' का 'तितली' ऐसा ही उपन्यास है जिसमें चिन्तन के साथ कल्पना का भी प्रचुर प्रयोग है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने भी ऐसे उपन्यास लिखे। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के 'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'निरुपमा' (१९३६) में स्वच्छन्दतावादी भावना मिलती है। इन में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। अभी तक

किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम पर 'तारा', 'मल्लिकादेवी' आदि लिखे थे। परन्तु उनमें कल्पना के सामने इतिहास की अवहेलना हो गई थी। ऐतिहासिक घटनाओं की सचाई को छोड़ कर कल्पना को प्रधानता दी गई थी। सर्वप्रथम वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में ऐतिहासिक उपन्यासों का सच्चा रूप प्रकट हुआ। 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी', 'माधव जी सिन्धिया', 'अहिल्याबाई', 'टूटे काँटे', 'कचनार' आदि दर्जनों उपन्यास उन्होंने लिखे। इनमें बुन्देलखण्ड की प्रकृति और सांस्कृतिक झाँकी के दर्शन होते हैं। अधिकांश उपन्यास मुगलों के पतन तथा अंग्रेज़ों के उत्थान काल के बीच के भारतीय इतिहास से सम्बन्धित हैं। वर्मा जी के उपन्यासों में उपन्यासकला तथा इतिहास का मनोहर समन्वय हुआ है। 'प्रसाद' का 'इरावती' उपन्यास भी इसी परम्परा में है। वह यदि पूर्ण हो जाता तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में उसका विशिष्ट स्थान होता। यह उपन्यास धारा प्रेमचन्द के समय में पनपी तथा आगे भी चलती रही। परन्तु आगे के लेखकों ने इतिहास के साथ कुछ अन्य समस्याएँ भी जोड़ दी हैं।

तृतीय उत्थान

प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी उपन्यास में दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उभर आईं—मनोविश्लेषणात्मक, प्रगतिवादी। इन दोनों का सूत्रपात तो प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही हो गया था परन्तु स्वतंत्र रूप में उनका विकास बाद में ही हुआ। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के प्रेरणा स्रोत फ्रायड तथा एडलर हैं जिनमें कामकुण्ठा तथा हीनभाव आदि के आधार पर अवचेतन मन का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। प्रगति-वादी उपन्यासों का प्रेरणा स्रोत मार्क्स है जिनमें पूँजीपतियों के विरुद्ध आक्रोश तथा साम्यवादी अर्थव्यवस्था का गुणगान पाया जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों में जैनेन्द्रकुमार, 'अज्ञेय' इलाचन्द्र जोशी का प्रमुख स्थान है। जैनेन्द्रकुमार के 'सुनीता' 'परख', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'व्यतीत', 'विवर्त', 'जयवर्द्धन' आदि में मनोविश्लेषण की प्रधानता दिखाई देती है। गाँधीवाद का भी उन पर प्रभाव है। वे परपीड़न के स्थान पर आत्मपीड़न में विश्वास रखते हैं। उन्होंने प्रेम की समस्या का मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर चित्रण किया है। पीछे के उपन्यासों में दार्शनिकता की प्रधानता होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य में कुछ कमी आ गई है। 'अज्ञेय' घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं। वे बौद्धिकता में विश्वास रखने वाले हैं, भावनाओं का उनके यहाँ कोई स्थान नहीं। वास्तव में उनके उपन्यासों में बुद्धि का रस प्राप्त होता है, हृदय का रस नहीं। परन्तु कला की दृष्टि से 'अज्ञेय' के उपन्यास बेजोड़ हैं। 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में 'अज्ञेय' की कला का सुन्दरतम रूप मिलता है। इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में जीवन का रसमय अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा', 'निर्वासित', 'जिप्सी' आदि उनके प्रधान उपन्यास हैं। इनमें मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर स्वप्न, भावभंगी, संभाषण आदि के द्वारा पात्र का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जोशी जी के परवर्ती उपन्यासों में उपन्यास कला उपेक्षित हो गई है तथा मनोविश्लेषण की ग्रन्थियों का वर्णन ही प्रधान हो गया है। यह कला की दृष्टि से दोष है। इन तीनों के अतिरिक्त डा० देवराज का 'पथ की खोज', नरोत्तम नागर का 'दिन के तारे', धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता', डा० द्वारिका प्रसाद का 'घेरे के बाहर' आदि उपन्यास भी इसी परम्परा में आते हैं।

प्रगतिवादी उपन्यासों के प्रतिनिधि लेखक हैं यशपाल। उनमें प्रेमचन्द की समाज कल्याण की भावना अत्यन्त उग्र रूप में दिखाई देती है। वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं को दिखाते हुए साम्यवाद के

आधार पर उनका समाधान प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' उनके ऐसे ही उपन्यास हैं। यशपाल में सन्तुलन प्रेमचन्द से कम है परन्तु दृष्टि उनसे तीक्ष्ण है। सामाजिक अन्याय पर वे कठोर आक्रमण करते हैं। उनके आक्रमण का मुख्य साधन है व्यंग्य जो बहुत निर्मम बन पड़ा है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' में यशपाल की अपेक्षा प्रतिभा कम परन्तु सन्तुलन अधिक है। 'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें' उनके सुन्दर उपन्यास हैं। मूल प्रेरणा की दृष्टि से राहुल साँकृत्यायन के उपन्यास भी इसी वर्ग में आते हैं परन्तु वे इनसे थोड़े भिन्न हैं। वर्तमान समय के राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण के स्थान पर उन्होंने प्राचीन काल के वातावरण को लिया है। 'जययौधेय', 'सिंह सेनापति' उनके प्रमुख उपन्यास हैं। रांगेय राघव के उपन्यासों में मूलप्रेरणा भी यही है। 'घरौंदे', 'सीधे सादे रास्ते', 'विशाल मठ', 'मुर्दों का टीला' उनके मुख्य उपन्यास हैं।

भगवतीचरण वर्मा की गणना इन दोनों धाराओं से बाहर ही करनी पड़ेगी। उन्होंने व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर गाँधीवादी तरीकों से उनके समाधान की चेष्टा की है। 'टेढे मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाँव', 'बीस वर्ष' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'चित्रलेखा' अपनी तरह का अनूठा उपन्यास है। इसमें पाप, पुण्य की समस्या के समाधान का प्रयत्न किया गया है।

प्रेमचन्दोत्तर कालीन धाराओं के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें तीव्रता और बौद्धिक घनत्व तो पहले की अपेक्षा अधिक है परन्तु प्रेमचन्द की वह स्वस्थ जीवन दृष्टि जैसे अब खण्डित हो गई है। जहाँ वे जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करते थे वहाँ आज का उपन्यासकार उसे खण्डित रूप में देखकर उसको विकलांग चित्रित करने में लगा हुआ है।

नये उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, लक्ष्मीनारायण लाल, नागार्जुन, फणीश्वर नाथ 'रेणु' का नाम आता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रयोगवादी और आँचलिक उपन्यासों की प्रधानता है। प्रयोगवाद कविता के क्षेत्र में चाहे सफल न रहा हो, उपन्यासों के क्षेत्र में उसे सफल मानना पड़ेगा। राजेन्द्र यादव ने रेडियो कमेण्टरी शैली पर, नागार्जुन ने रिपोर्ताज की शैली पर, रुद्र ने झलकियों की शैली पर अनेक प्रयोगात्मक उपन्यास लिखे हैं। भाषा सम्बन्धी प्रयोग भी इन उपन्यासों में मिलते हैं। इन उपन्यासों में लोक जीवन की भाषा को साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया जा रहा है। आँचलिक उपन्यासों में उपेक्षित जन जीवन तथा संस्कृति को विषय बनाया गया है। 'रेणु' के 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' ऐसे ही उपन्यास हैं जिनमें अत्यन्त सीमित प्रदेश गाँव मात्र को उपन्यास की सम्पूर्ण गतिविधि का केन्द्र बनाया गया है। 'मैला आँचल' की आलोचकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है तथा उसे 'गोदान' के बाद सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास बतलाया है।

उपन्यासों के क्षेत्र में अनुवादों की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। विदेशी भाषाओं में प्रधानतः अंग्रेजी और रशियन से तथा स्वदेशी भाषाओं में प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं से अनुवाद किये जा रहे हैं।

हिन्दी उपन्यास प्रगति तथा विकास के पथ पर है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता शैलीगत प्रयोगों में मिलती है। विषय वस्तु के क्षेत्र में नवीनता, भाषा की प्रौढ़ता तथा शैली में नित्य नये प्रयोग उपन्यास के उज्ज्वल भविष्य के सूचक हैं।

हिन्दी नाटक

हिन्दी नाटक का वास्तविक जन्म सन् १८७३ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों से हुआ। तथापि भारतेन्दु से पहले भी नाटक प्राप्त होते हैं जिन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—साहित्यिक नाटक,

लोक नाटक। साहित्यिक नाटकों में इन की गणना होती है भक्ति काल का प्राणचन्द्र चौहान कृत 'रामायण महानाटक'; रीति काल के हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद, जोधपुर नरेश यशवन्तसिंह आदि अनेक व्यक्तियों के 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवाद, रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंहकृत 'आनन्द रघुनन्दन' तथा आधुनिक काल के राजा लक्ष्मणसिंह कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का 'शकुन्तला' नाम से अनुवाद आदि। इन में 'आनन्द रघुनन्दन' में थोड़ा बहुत नाटकत्व मिलता है। 'शकुन्तला' तो अनुवाद ही है। लोक नाटकों में रास लीला, राम लीला और स्वांग आते हैं। डा० दशरथ ओझा ने लोक नाटकों को ही आधुनिक नाटक का स्रोत माना है। (हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ४२)।

इस प्रकार भारतेन्दु से पहले साहित्यिक नाटकों तथा लोक नाटकों का अविकसित रूप ही मिलता है। भारतेन्दु ने अपने प्रयत्नों से हिन्दी नाटकों को साहित्यिक रूप प्रदान किया। अतः हिन्दी नाटक का वास्तविक आरम्भ उन से मानना अनुचित न होगा। भारतेन्दु के बाद से हिन्दी नाटक की परम्परा निरंतर चली आ रही है। इस के विकास को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं।

(१) प्रथम उत्थान (१८७३ - १९०० - १९१५)
(२) द्वितीय उत्थान (१९१५ - १९३४)
(३) तृतीय उत्थान (१९३४ से)

प्रथम उत्थान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस काल के पूर्वार्ध के मुख्यतम नाटककार हैं। कुल मिलाकर उन्होंने १८ नाटक लिखे जिनका वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

(क) अनूदित नाटक—रत्नावली नाटिका (१८३८), पाखंड विडंबन

(१८७२), धनंजय विजय(१८७३), कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस (१८७८), दुर्लभ बन्धु (१८८०) ।

(ख) रूपान्तरित नाटक—विद्या सुन्दर (१८६८), सत्य हरिश्चन्द्र (१८७४)। इनमें अनूदित अंश कम तथा मौलिकता अधिक है।

(ग) मौलिक नाटक–प्रेम जोगनी (१८८७), भारत दुर्दशा (१८-८०), नील देवी (१८८१), सती प्रताप (१८८३), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३), विषस्य विषमौषधम् (१८७८), अंधेर नगरी (१८८१)। इन में से पिछले तीन प्रहसन हैं।

इनमें से अनूदित रचनाओं में 'रत्नावली' और 'मुद्राराक्षस', रूपान्तरित में 'सत्य हरिश्चन्द्र', मौलिक में 'चन्द्रावली' और 'नील देवी' श्रेष्ठ हैं। भारतेन्दु के नाटकों का सही मूल्यांकन उन के रूपान्तरित और मौलिक नाटकों के आधार पर ही किया जा सकता है।

भारतेन्दु के नाटकों की कथावस्तु का विषय विस्तृत है। 'चन्द्रावली' में भक्ति तत्व, 'विद्या सुन्दर' में प्रेम तत्व, 'प्रेम योगनी' में सामाजिक तत्व, 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्रीयता तथा 'नील देवी' में भारतीय नारी का आदर्श मिलता है। जहाँ तक कथावस्तु के विकास का सम्वन्ध है, 'चन्द्रावली' में कथा वस्तु कुछ गौण पड़ गई है। इस दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' उनका सब से सफल नाटक है। चरित्र के चित्रण की दृष्टि ते उन के पात्र वर्गगत है, व्यक्तिगत नहीं। सब में एक ही प्रकार की विशेषताएँ हैं। उन में या तो सद्गुण ही हैं अथवा दुर्गुण ही। पात्रों के चरित्र में मानव सुलभ सद्गुणों तथा दुर्गुणों का मेल नहीं मिलता। वे विकासशील नहीं। इस दृष्टि से रतिभान की प्रधानता है। इस रति (प्रेम) के भी तीन रूप हैं–भगवान के प्रति, देश के प्रति, धर्म के प्रति। 'चन्द्रावली' में विप्रलंभ शृंगार तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वीर एवं करुण रस की व्यंजना मिलती है। प्रहसनों में हास भाव मिलता है जो व्यंग्य न होकर वाच्य है। नाटकों का प्रमुख उद्देश्य नव जागरण का संदेश देना माना जा सकता है। इन में सुधार पर

बहुत बल दिया है, राजनीतिक और सामाजिक दोषों के परिहार का प्रयत्न है और पारसी नाटकों के कुप्रभाव को दूर करने का प्रयास है। नाट्यकला की दृष्टि से भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य प्रणालियों का समन्वय किया है। अभिनेयता भी उन के नाटकों में मिलती है।

साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से चाहे इन नाटकों का महत्त्व अधिक न हो, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व असन्दिग्ध है। सचाई तो यह है कि नाटकों की प्रारम्भिक अवस्था में किसी नाटककार से सफल नाटकों की आशा करना ठीक न होगा। भारतेन्दु ने हिन्दी में साहित्यिक नाटकों का प्रचलन किया, रंगमंच को प्रोत्साहित किया, पारसी रंगमंच और स्वांग की चाल पर लिखे जाने वाले अश्लील नाटकों की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया, जनता की रुचि को परिष्कृत किया और अन्य साहित्यकारों को नाटक लिखने की प्रेरणा दी। यह क्या कम है ? इतना सब करने वाला व्यक्ति यदि कला की दृष्टि से सफल नाटक न लिख सका तो वह आलोच्य नहीं बन जाता। यों तो 'सत्य हरिश्चन्द्र' उनका सफल नाटक है जिसका अनेक बार अभिनय हुआ और आज भी अभिनीत होने पर वह अनेक सहृदयों को द्रवित कर सकता है।

भारतेन्दु ने जिन साहित्यकारों को नाटक लिखने की प्रेरणा दी उनमें सर्वश्री श्रीनिवास दास, राधाकृष्ण दास, किशोरी लाल गोस्वामी, रावकृष्ण देवशरण सिंह और 'प्रेमवन' मुख्य हैं। इन लोगों ने तथा अन्य साहित्यकारों ने अनेक प्रकार के नाटक लिखे जिनका प्रवृत्तिपरक निवेदन इस प्रकार है—

पौराणिक नाटक—इन नाटकों में राम और कृष्ण के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र, गोपी चन्द, नल-दमयन्ती, प्रह्लाद आदि की कथाएँ ली गईं। ऐसे नाटकों में देवकी नन्दन त्रिपाठी के 'सीताहरण नाटक' (१८७६), 'रुक्मिणी हरण नाटक' (१८७६), बलदेव प्रसाद मिश्र का 'नन्द विदा' (१९००), बाल कृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती

स्वयंवर' आदि लिये जा सकते हैं। ये नाटक साधारण कोटि के हैं। इनमें 'दमयन्ती स्वयंवर' सर्वोत्तम है।

सामाजिक नाटक—इन नाटकों में 'विधवा विवाह' (१८८२), 'विवाहिता विलाप' (१८८३), 'दुःखिनी बाला' आदि की गणना होती है।

ऐतिहासिक नाटक—भारतेन्दु के 'नील देवी' की परम्परा में ये नाटक लिखे गये जिनमें श्री निवास दास का 'संयोगिता स्वयम्वर', राधा कृष्ण दास के 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' तथा राधा चरण गोस्वामी का 'अमर सिंह राठौर' उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय नाटक—भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' की परम्परा में अम्बिका दत्त व्यास का 'भारत सौभाग्य' (१८८७), 'प्रेमघन' का 'भारत सौभाग्य' (१८८८) आदि राष्ट्रीय नाटकों की रचना हुई।

प्रेम प्रधान नाटक—भारतेन्दु की 'चंद्रावली' नाटिकका की परम्परा में इनकी रचना हुई। इसमें श्री निवास दास कृत 'रणधीर प्रेम मोहनी', खड्ग बहादुर मल्ल कृत 'रति कुसुम' (१८८५), किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'मयंक मंजरी' (१८९१) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें काव्यात्मकता मिलती है।

प्रहसन—प्रहसनों की परम्परा भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से पड़ी। देवकी नन्दन त्रिपाठी का 'कलियुगी जनेऊ' (१८८३), बाल कृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम' (१८७७), राधा चरण गोस्वामी का 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण' (१८९०) आदि का नाम ऐसे नाटकों में उल्लेखनीय है। यह स्मरणीय है कि इनमें सामाजिक कुरीतियों पर कठोर व्यंग्य-प्रहार किये गये हैं।

अनुवाद—संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला से श्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद किये गये। संस्कृत से अनुवाद करने वालों में लाला सीता राम का नाम सबसे आगे है। उन्हों ने 'मालविकाग्निमित्र'

'उत्तर राम चरित', 'मालती माधव', 'मृच्छ कटिक', 'नागानंद' आदि श्रेष्ठ संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेजी से तोता राम वर्मा ने 'केटो वृत्तान्त' नाम से 'केटो' (जोसेफ एडिसन कृत) का, रतन चन्द्र ने 'भ्रमजालिका' नाम से 'कॉमेडी आफ् एरर्स' (शेक्सपीयर कृत) का, और पुरोहित प्रेम नारायण ने शेक्सपीयर कृत 'रोमियो जूलियट' और 'एज़ यू लाइक इट' का क्रमशः 'प्रेम लीला' और 'मन भावन' नाम से अनुवाद किया। बंगला से राम कृष्ण वर्मा ने 'पद्मावती' (राजा किशोर दे कृत) का, मुन्शी उदित नारायण ने 'सती नाटक' (मनमोहन वसु कृत) आदि का अनुवाद किया।

अनुवादों को छोड़ कर शेष मौलिक नाटक, जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, कला की दृष्टि से अत्यन्त सामान्य कोटि के हैं। इनमें से कोई भी भारतेन्दु की कला तक न पहुँच सका।

प्रथम उत्थान के पूर्वार्ध का यह संक्षिप्त विवरण है। उसका उत्तरार्ध १९०० से १९१५ तक रहा। यह अन्तराल भारतेन्दु और 'प्रसाद' के मध्य का अन्तराल था जिसमें भारतेन्दु कालीन नाटक-प्रवृतियाँ ही चलतीं रहीं। इसमें तीन प्रकार के नाटकों की गणना होती है—

पारसी रंगमंच के लिये लिखे गये नाटक—ये सुरुचि हीन थे और धनार्जन के निमित्त लिखे गये थे। ऐसे नाटककारों में सर्वश्री नारायण प्रसाद 'बेताब', हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, आगा हश्र काश्मीरी का नाम आता है।

पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में लिखे गये नाटक—इनमें मिश्र बन्धु कृत 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५), मैथिली शरण गुप्त कृत चन्द्रहास (१९१६), 'हरि औध' कृत 'प्रद्युम्न विजय' और 'रुक्मिणी परिणय' आदि की गणना होती है। ये नाटक कला की दृष्टि से सामान्य ही रहे। पारसी रंगमंच के नाटकों की प्रतिक्रिया में लिखे

जाने के कारण इनमें नैतिकता और सदाचार पर बल दिया गया। अतः नाट्य कला की कुछ सीमा तक उपेक्षा हो गई।

साहित्यिक नाटक—इनमें बद्रीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवन दहन', 'दुर्गावती', 'चन्द्र गुप्त' (१९१२) तथा माधव शुक्ल का 'महाभारत' (१९१५) आदि कुछ नाटक आते हैं। ये नाटक कला की दृष्टि से सफल हैं। इन नाटकों से हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की परम्परा प्रारम्भ होती है जिसके दर्शन आगे हमें 'प्रसाद' के नाटकों में होते हैं। यों तो 'प्रसाद' जी ने १९१० से नाटक लिखने प्रारंभ कर दिये थे परन्तु १९१५ में ही वे नाटककार के रूप में ख्याति प्राप्त कर सके।

द्वितीय उत्थान

'प्रसाद' की नाटक रचना से द्वितीय उत्थान का आरंभ होता है। 'प्रसाद ने निम्नलिखित नाटक लिखे 'सुजान' (१९१०-११), 'कल्याणी परिणय' (१९१२), 'प्रायश्चित्त' (१९१४), 'राज्य श्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१), 'अजात शत्रु' (१९२२), 'कामना' (१९२३), 'स्कन्द गुप्त' (१९२८), 'जनमेजय का नाग यज्ञ' (१९३०), 'एक घूँट' (१९३०), 'चन्द्र गुप्त' (१९३१), 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३)।

'प्रसाद' के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। उनमें भारतीय इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है जिसमें भारतीय संस्कृति अपने पूर्ण वैभव में थी। कथावस्तु को विकसित करने के लिये 'प्रसाद' ने कल्पना का भी सहारा लिया है। उनके नाटकों में कथावस्तु अधिकतर जटिल होती है, कई उपकथाएँ साथ चलती हैं। 'प्रसाद' के चरित्र भी उल्लेखनीय हैं। वे चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट चित्रण करते हैं। आदर्शवादिता, दार्शनिकता और कवित्व प्रियता उनके चरित्रों की विशेषताएँ हैं। चरित्र का आकस्मिक परिवर्तन भी उनके पात्रों की एक विशेषता है। पुरुष और नारी दोनों वर्गों में अनेक प्रकार के चरित्रों की सृष्टि उन्होंने

की है। 'प्रसाद' के नाटकों में महाकाव्य जैसी गंभीरता दिखाई देती है। वातावरण अधिकांश में काव्यमय है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, 'प्रसाद' के नाटक मधु से वेष्ठित हैं। प्रसाद मूल रूप से कवि हैं। अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है' (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १३)। गीतों के समावेश से यह काव्य-मयता और भी बढ़ गई है। अन्त की दृष्टि से 'प्रसाद' के नाटक न तो दुःखान्त हैं और न सुखान्त। डा० नगेन्द्र ने इन्हें 'प्रसादान्त' बताया है। यह शब्द उनके नाटकों के लिये सर्वथा उपयुक्त है। नाटक के अन्त में नायक और नायिका दुःख को सानन्द अपनाते हैं, यह 'प्रसाद' का प्रसादत्व ही है। इन गुणों के साथ अभिनय में कठिनाई, भाषा की अति गंभीरता, कथावस्तु का टूट जाना, एकता का अभाव आदि कुछ कमियाँ भी उनके नाटकों में मिलती हैं।

'प्रसाद' की समकालीन नाटक सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विवरण इस प्रकार है—

ऐतिहासिक नाटक—इनमें चन्द्रराज भंडारी का 'अशोक' (१९२३), प्रेम चन्द का 'कर्बला' (१९२४), बद्री नाथ भट्ट का 'दुर्गावती' (१९२६), जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९२८), वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' (१९२८) प्रमुख हैं। परन्तु 'प्रसाद' की ऊँचाई तक इनमें से कोई भी न पहुँच सका।

पौराणिक नाटक—यह परम्परा प्रथम उत्थान से ही चल रही थी। 'प्रसाद' के समय में भी यह चलती रही। स्वयं उन्होंने 'जनमे-जय का नागयज्ञ' (१९३०) इसी परम्परा में लिखा। अन्य नाटकों में माखन लाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९१८), 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' (१९२२), सुदर्शन कृत 'अंजना' (१९२२), वियोगी हरि कृत 'छद्म योगिनी' (१९२३), गोविन्दवल्लभ पन्त कृत 'वरमाला' (१९२५) आदि का प्रमुख स्थान है। साहित्यिक गुण इन सब में मिलते हैं।

प्रहसन—प्रहसनों की परम्परा भी भारतेन्दु काल से ही चलती रही। इसमें बद्रीनाथ भट्ट के 'लबड़ धोंधों' (१९२३), विवाह विज्ञापन' (१९२७), जी० पी० श्रीवास्तव के 'उलटफेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०), सुदर्शन कृत 'आनरेरीमजिस्ट्रेट' (१९२९) की गणना होती है। इनमें श्रीवास्तव का हास्य अशिष्ट और निम्न कोटि का है, सुदर्शन का प्रशंसनीय है।

अनूदित नाटक—संस्कृत से मैथिलीशरण गुप्त द्वारा स्वप्न वासवदत्ता (भासकृत) का १९२८ में, हरदत्त द्वारा 'कुन्दमाला' (दिङ्नाग कृत) का १९३१ में अनुवाद हुआ। पाश्चात्य नाटकों में शेक्सपीयर के अतिरिक्त अंग्रेज़ी के गाल्सवर्दी, फ्रेंच के मॉलियर, जर्मनी के शिलर और बेलजियम के मेटरलिंक के नाटकों का अनुवाद हुआ। बंगला से रूपनारायण पाण्डेय और राम चन्द्र वर्मा ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्र लाल राय और गिरीश चन्द्र घोष के अनेक नाटकों का अनुवाद किया। राय के अनूदित नाटकों ने हिन्दी-नाटकों की मौलिकता को भी प्रभावित किया।

इस काल के नाटक साहित्यिक हैं, जन रुचि का अनुसरण करने वाले नहीं। ये सोद्देश्य हैं और उनमें कवित्वपूर्ण वातावरण, गंभीर तथा साहित्यिक भाषा शैली और आदर्शवादी चरित्रण मिलता है। पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव भी इन नाटकों पर पड़ा। विषय की दृष्टि से भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा की विशेषताओं का इनमें चित्रण है। इसी काल में समस्या नाटकों का प्रादुर्भाव लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से हुआ परन्तु प्रवृत्ति के रूप में वे 'प्रसाद' के बाद ही उभर सके।

तृतीय उत्थान

'प्रसाद' के बाद का नाटक साहित्य तृतीय उत्थान में आता है। इस काल में प्राचीन नाटक-प्रवृत्तियाँ भी चलती रहीं तथा नये रूपों का

भी विकास हुआ। मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

पौराणिक नाटक—प्रथम और द्वितीय उत्थान की पौराणिक नाटक-परम्परा इस काल में भी चलती रही। इन नाटकों में उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' (१९३७), 'विश्वामित्र' (१९३८), सेठ गोविन्द दास के 'कर्तव्य' (१९३५) और 'कर्ण' (१९४६), 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (१९४०), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'नारद की वीणा' (१९४६), चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (१९३९), रामकुमार वर्मा का 'राजरानी सीता' (१९४७) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें भट्ट जी के नाटक सर्वश्रेष्ठ बन पड़े हैं। उन्होंने अपने युग की समस्याओं को प्राचीन कथानकों पर आधारित कर चित्रित किया है। इन नाटकों का शिल्पविधान संस्कृत नाटकों से अधिक मिलता है।

ऐतिहासिक नाटक—इनमें तीन प्रकार के नाटकों की रचना हुई—सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक नाटकों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'रेखा' और 'अशोक' (१९३५) तथा सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' की गणना होती है। इसमें 'प्रसाद' के नाटकों की सांस्कृतिकता अक्षुण्ण रही है। राष्ट्रीय ऐतिहासिक नाटकों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'रक्षाबन्धन' (१९३७), 'स्वप्नभंग' (१९४०), 'उद्धार' (१९४९), 'शिवासाधना', 'साँपों की सृष्टि' (१९५७) गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट' (१९३५), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जय पराजय', उदयशंकर भट्ट का 'दाहर' (१९३४), सेठ गोविन्ददास का 'कुलीनता' (१९४०), और चतुरसेन शास्त्री के 'अमर राठौर', 'अजीत सिंह' आदि की गणना होती है। इनसे 'प्रेमी' सबसे सफल नाटककार हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल को लिया है। इन नाटकों में ऐतिहासिक खोज के स्थान पर कल्पना और भावना की प्रधानता है परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश नहीं की गई।

राजनीतिक ऐतिहासिक नाटकों में सेठ गोविन्ददास के 'शशिगुप्त' (१६४२) आदि की गणना होती है। इन नाटकों में नई ऐतिहासिक खोजों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों के निर्वाह की प्रवृत्ति पाई जाती है। भारतवर्ष के राजनैतिक उत्कर्ष की अभिव्यक्ति इनमें मिलती है। इनके अतिरिक्त वृन्दावनलाल वर्मा ('झाँसी की रानी', 'पूर्व की ओर') और लक्ष्मीनारायण मिश्र ('अशोक') भी इस काल के ऐतिहासिक नाटककार हैं।

सामाजिक नाटक—इस दृष्टि से हिन्दी नाटक समृद्ध नहीं कहा जा सकता। ऐसे नाटकों में 'उग्र' का 'चुम्बन', 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक', गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी', सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश', 'पाकिस्तान', उदयशंकर भट्ट का 'कमला', 'अन्तहीन अन्त' की गणना होती है। इनमें सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। इनमें 'अश्क' का नाटक अच्छा हैं।

प्रतीकात्मक नाटक—अन्योपदेशिक नाटक या नाट्य रूपक भी इन्हीं नाटकों के नाम हैं। 'प्रसाद' ने कामना लिखकर 'प्रबोधचन्द्रोदय' वाली प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाया था। इसके बाद सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना', भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'छलना', और सेठ गोविन्ददास ने 'नवरस' की रचना की। कला की दृष्टि से ये रचनाएँ प्रौढ़ हैं। इनका हिन्दी नाटक साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

समस्या नाटक—'प्रसाद' के बाद की नाट्य प्रवृत्तियों में समस्या नाटकों की प्रवृत्ति सब से प्रमुख है। इस प्रवृत्ति के प्रवर्तक लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। उन्हें इब्सन और शॉ के नाटकों से उन्हें लिखने की प्रेरणा मिली। ये नाटक भावुकता और रोमांस (जो 'प्रसाद' के नाटकों में विशेष रूप से मिलता है) के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप लिखे गये। इनमें से अधिकांश नाटकों की मूल समस्या 'सैक्स' ही है। टेकनीक की दृष्टि से ये पश्चिम के समस्या

नाटकों से काफी प्रभावित है। इनका अन्त प्रायः दुःख में या अनिश्चय में होता है। इनकी शैली मनोविश्लेषणात्मक है। हिन्दी नाटक की समस्या नाटक लिखने की प्रवृत्ति आज काफी प्रबल हो उठी है और आज के नाटक साहित्य में समस्या-नाटक ही शायद उसका सबसे सजग रूप है। लक्ष्मीनारायण मिश्र इन नाटकों के प्रवर्तक होने के साथ मुख्यतम नाटककार भी हैं। उन्होंने 'संन्यासी' (१८३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१८३२), 'राजयोग', (१९३४), 'सिन्दूर की होली' (१८३४), 'आधीरात', पृथ्वीनाथ शर्मा ('दुविधा,' 'अपराधी)' उदय शंकर भट्ट ('कमला'), हरि कृष्ण 'प्रेमी' ('छाया'), भी उल्लेखनीय समस्या-नाटककार हैं। कला की दृष्टि से इनमें मिश्र जी ही सबसे ऊपर ठहरते हैं यद्यपि पश्चिम के समस्यानाटक-कारों (जिनसे उन्हों ने प्रेरणा ली है) के सामने वे हलके ही उतरते हैं।

नये नाटककारों में एकांकी लिखने वालों की प्रधानता हो रही है। अनेकांकी नाटक लिखने का प्रचलन कम ही हो रहा है। नये अनेकांकी नाटकों में जगदीश चन्द्र माथुर का 'कोणार्क' और मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कोणार्क वास्तव में एक अत्यन्त कलात्मक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें उड़ीसा स्थित कोणार्क के प्राचीन ध्वस्त मन्दिर के निर्माण और ध्वंस-सम्बन्धी किंववदंतियों और ऐतिहासिक सूचनाओं के आधार पर दूसरे निर्माता शिल्पी विशु की कला साधना के वृत्तान्त को लेकर कथावस्तु का निर्माण हुआ। सुमित्रा नन्दन पन्त ने 'कोणार्क' के विषय में लिखा है, "हिन्दी में नाट्यकला की ऐसी सर्वांग पूर्ण सृष्टि मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिली। इसमें प्राचीन, नवीन नाट्य कला का अत्यन्त मनोरम सामंजस्य है। विषय-निर्वाचन', कथावस्तु, क्रम विकास, संवाद, ध्वनि, मितव्ययिता आदि सभी दृष्टियों से 'कोणार्क' अद्भुत सुथरी संतुलित कलाकृति है।"

वर्तमान पीढ़ी के नाटक पाश्चात्य नाट्य कला से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हो रहे हैं। आज का नाटककार यह भली भाँति समझता है कि अभिनेयता में ही उसके नाटक की सफलता है। इसके लिये वह नाटक में विस्तृत रंग संकेत देता है। यथार्थवादिता भी उसकी विशेषता है। जिन बातों का हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है उन्हीं पर नाटकों की रचना की जाती है। इस प्रकार सामाजिक नाटकों की आज बहुलता है। ऐतिहासिक नाटकों में भी सामाजिक तत्त्व का समावेश रहता है। आकार के विषय में लघुता पर आज का नाटककार बल देता है, विस्तृत नाटक लिखना वर्तमान परिस्थितियों के प्रतिकूल है। अभिनय में उसके सारभूत प्रभाव को अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है।

आज हिन्दी नाटकों को रंगमंच पर भी प्रस्तुत किया जाता है। विश्वविद्यालयों तथा शिक्षा संस्थाओं के मंच पर तो वे अभिनीत होते ही हैं, व्यावसायिक रंगमंच भी उसे आज सुलभ है। रजतपट की लोकप्रियता आज उस पर कोई घातक प्रभाव नहीं कर पा रही हैं। परिष्कृत जनरुचि नाटकों के अभिनय का हार्दिक स्वागत कर रही है। वस्तुतः रंगमंच की इस सुविधा ने उसे लोकप्रिय बनाने में योग दिया है जिससे उसका भविष्य अधिक उज्ज्वल हो उठा है।

एकांकी

हिन्दी में एकांकी पश्चिम से आया है। संस्कृत के रूपक के भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी आदि भेदों में भी एक ही अंक होता है, परन्तु इतने मात्र से 'एकांकी' को भारतीय नाट्य विधा नहीं कहा जा सकता। 'प्रसाद' से पहले भारतेन्दु ने एक अंक वाले जितने नाटक लिखे वे भाण आदि थे और 'एकांकी' एक पाश्चात्य धारणा है। अतः उनके साथ एकांकी का सम्बन्ध जोड़ना ठीक न होगा, उन्हें एकांकी का 'पूर्व-

रूप' भी नहीं कहना चाहिये । इस प्रकार भारतेन्दु को एकांकी का जन्मदाता न मानना ही उचित प्रतीत होता है ।

हिन्दी में एकांकी का प्रारम्भ 'प्रसाद' के 'एक घूँट' (१९३०) से हुआ । एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है । इसके बाद से एकांकी का लगातार विकास होता चला गया ।

भुवनेश्वर प्रसाद का एकांकी संग्रह 'कारवाँ' (१९३५) बहुत सफल है । टेकनीक की दृष्टि से नाटक उत्कृष्ट बन पड़े हैं । इनमें प्रेम का त्रिकोण मिलता है । भुवनेश्वर पर शॉ का बहुत प्रभाव है पर शॉ की सुधारवादिता उनमें नहीं । वे समस्यायें उठाकर रह जाते हैं ।

रामकुमार वर्मा ने बृहत् संख्या में सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं । उनके 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई', 'ऋतुराज', 'रिमझिम' आदि पंद्रह से भी अधिक एकांकी संग्रहों में लगभग ९० एकांकी नाटक आ गये हैं । वर्माजी के एकांकियों में भारतीयता की भावना तथा चरित्रों में मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व मिलता है ।

उदयशंकर भट्ट के एकांकी 'अभिनव एकांकी','समस्या का अन्त', 'धूमशिखा' आदि में संगृहीत हैं । इनमें से कई पौराणिक हैं और कई दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं पर आधारित हैं ।

सेठ गोविन्ददास के एकांकी 'स्पर्द्धा','सप्तरश्मि' आदि में संगृहीत हैं । उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक सभी प्रकार के एकांकी लिखे हैं । वे 'उपक्रम' और उपसंहार का प्रयोग भी करते हैं । अनुभूति की तीव्रता इनमें नहीं मिलती ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने मध्यवर्गीय समाज की दशा पर अनेक एकांकी लिखे हैं । 'लक्ष्मी का स्वागत', 'तौलिये' आदि इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं।

विष्णु प्रभाकर ने सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और हास्य व्यंग्य युक्त सभी प्रकार के एकांकी लिखे हैं । भावुकता, बौद्धिकता, व्यक्तिवादिता, सामाजिकता आदि सभी उनके एकांकियों में मिलती हैं,

परन्तु सब संयत मात्रा में। 'माँ','भाई', 'उपचेतना का छल', 'रहमान का वेटा' ग्रादि उनके प्रसिद्ध एकांकी हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकियों में कलात्मकता, गंभीरता ग्रौर व्यंग्य मिलता है। वे सामाजिक समस्याग्रों पर एकांकी लिखते हैं। 'भोर का तारा', 'रीढ़ की हड्डी', 'खण्डहर' ग्रादि उनके प्रसिद्ध एकांकी हैं।

ग्रन्य प्रसिद्ध एकांकीकारों में सर्वश्री गरणेश प्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण ग्रवस्थी, 'उग्र', लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी' वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, पृथ्वीनाथ शर्मा, भगवती चरण वर्मा, धर्मप्रकाश ग्रानन्द, विनोद रस्तोगी, सत्येन्द्र शरत् ग्रादि का नाम लिया जा सकता है।

ग्राज के युग में एकांकी बहुत लोकप्रिय हो रहा है। कहना न होगा कि एकांकी नाटकों ने ग्रनेकांकी नाटकों की परम्परा को उत्पादन की दृष्टि से काफी प्रभावित किया है।

यह भी स्मरणीय है कि एकांकी ग्रब रेडियो पर भी पहुँच गया है। ग्रनेक एकांकी रूपान्तरित होकर ग्रब रेडियो के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। रंगमंच ग्रौर रेडियो दोनों पर एकांकी की यह पहुँच उसके महत्त्व की द्योतक है।

गीति नाट्य ग्रौर भाव नाट्य

सामान्य रूप में पद्यबद्ध रूपक को गीति नाट्य कहा जा सकता है परन्तु पद्यात्मकता के साथ-साथ उसमें भावमयता ग्रौर ग्रन्तःसंघर्ष ग्रनिवार्य हैं। ग्रंग्रेजी के 'लीरिकल ड्रामा' को ही हिन्दी में गीति नाट्य कहते हैं।

'प्रसाद' का 'करुणालय' हिन्दी का पहला गीति नाट्य ठहरता है परन्तु इसका गीतितत्त्व ग्रौर नाट्यतत्त्व दोनों ही ग्रस्फुट हैं। ग्रतः यह सफल नहीं कहा जा सकता।

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' कहने को तो गीतिनाट्य है परन्तु इसमें गीतितत्व बहुत ही क्षीण है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'स्वर्ण विहान' में गीतिनाट्य की उपयुक्त भावमयता की कमी है, कथातत्त्व उसमें अधिक है।

'निराला' के 'पंचवटी-प्रसंग' को गीतिनाट्य के स्थान पर नाट्य-कविता (ड्रैमेटिक पोयम) कहना उचित होगा क्योंकि नाट्य तत्त्व की कमी और काव्य तत्त्व की अधिकता के कारण यह नाटक का भेद न होकर कविता का भेद हो जाता है।

भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' एक सफल गीतिनाट्य है जिसके भावों में नाटकोपयुक्त उत्थान पतन है।

उदयशंकर भट्ट ने भी तीन गीति नाट्य लिखे हैं—'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'राधा'। इनमें 'मत्स्यगन्धा' अत्यन्त उच्चकोटि का गीति नाट्य है।

अन्य जो गीति नाट्य लिखे गये वे रेडियो के लिये लिखे गये। अतः वे रेडियो संगीत-रूपक में आ जाते हैं। हिन्दी का गीति नाट्य साहित्य स्वल्प ही है।

भावनाट्य और गीतिनाट्य में आत्मा का कोई अन्तर नहीं, अन्तर केवल माध्यम का है। भावनाट्य में गद्य का प्रयोग होता है परन्तु गीति-नाट्य के समान ही उसमें भावमयता, अन्तःसंघर्ष, कोमलता आदि की प्रधानता होती है।

गोविन्दवल्लभ पन्त ने दो भावनाट्य लिखे—'वरमाला', 'अन्तः-पुर का छिद्र'। 'वरमाला' में पुरुष और नारी के प्रेम में उनके अहं के संघर्ष की कोमल अभिव्यक्ति है। वस्तुतः पन्तजी में भावनाट्य लिखने की अच्छी क्षमता है।

उदयशंकर भट्ट का 'अम्बा' भी भावनाट्य ही है, यद्यपि कथा की दृष्टि से वह पौराणिक नाटक है। इसमें अधिकार प्राप्ति के लिये पुरुष

और नारी का संघर्ष दिखाया गया है। वस्तुतः कला की दृष्टि से यह सफल नाटक है।

मुरारिशरण मांगलिक ने 'मीरा' नामक भावनाट्य की रचना की। यह नाटक साधारण ही है।

भावनाट्यों की परम्परा भी हिन्दी में विशेष समृद्ध नहीं हुई। वास्तव में युग की माँग भावुकता के पक्ष में न होकर बौद्धिकता के पक्ष में हो गई है। इसलिये लेखकवर्ग और पाठकवर्ग बौद्धिक नाटक लिखना और पढ़ना अधिक पसन्द करता है।

रेडियो नाटक

ध्वनि नाटक भी रेडियो नाटक का दूसरा नाम है। रेडियो ने नाटक को दृश्य काव्य से श्रव्य काव्य बनाकर साहित्यिक जगत् में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है। आजकल ये बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत उसके मुख्य तत्त्व हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रेडियो पर वही नाटक सफल हो पाता है जो विशेष रूप से रेडियो के लिये लिखा जाता है। इस प्रकार रेडियो नाटक का अपना शिल्प होता है। किसी एकांकी को, यदि वह रेडियो के लिये नहीं लिखा गया, उसी रूप में रेडियो पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके लिये रेडियो नाटक के शिल्प के अनुसार एकांकी का रेडियो रूपान्तर करना पड़ता है। घटना प्रधान नाटक की अपेक्षा विचार प्रधान या वातावरण प्रधान नाटक रेडियो के लिये अधिक उपयुक्त, सफल और प्रभावोत्पादक होते हैं। उनमें जितना अधिक घनत्व होगा उतना ही अधिक प्रभाव वे उत्पन्न करेंगे। सर्वात्मना श्रव्य होने के कारण रेडियो नाटक के श्रोता को रंगमंचीय नाटक की अपेक्षा अधिक सहृदय तथा सजग होना पड़ता है तथा अभिनेता को भी अपनी वाणी पर पूरा अधिकार रखना होता है। रेडियो नाटक के अनेक रूप होते हैं—रेडियो फीचर (रेडियो रूपक), रेडियो फैण्टेसी (अतिकल्पना), संगीत रूपक,

हास्य रूपक, झलकियाँ (इन्द्रधनुष, लहर, नमकदान, रंगतरंग आदि भी इसके नाम हैं) आदि। इनमें रेडियो फीचर या रेडियो रूपक ही सबसे अधिक प्रचलित हैं।

परिस्थितियों को देखते हुए हिन्दी में रेडियो नाटक का अच्छा विकास हुआ है।

पौराणिक विषयों पर लिखने वालों में सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र ('अहिल्या', 'अशोक वन'), सेठ गोविन्ददास ('कर्ण'), कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति और विपिनचन्द्र बन्धु ('ऋष्य शृंग') अच्छे नाटककार हैं।

ऐतिहासिक विषयों पर लिखने वालों में सर्वश्री रामकुमार वर्मा ('चारुमित्रा', 'औरंगज़ेब की आखिरी रात'), जगदीशचन्द्र माथुर (भोर का तारा', 'विजय की वेला', 'कोणार्क'), लक्ष्मीनारायण लाल ('ताज-महल के आँसू') देवेन्द्रनाथ शर्मा ('शाहजहाँ के आँसू और शेरशाह') रामवृक्ष बेनीपुरी ('अम्बपाली'), नरेन्द्र शर्मा ('उपगुप्त') आदि सफल नाटककार हैं। इनमें रामकुमार वर्मा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

प्रयोग की दृष्टि से विष्णुप्रभाकर सब से आगे हैं। उन्होंने तो रेडियो के लिये ही नाटक लिखे हैं। 'उपचेतना का छल', 'जहाँ दया पाप है' आदि उनके सुन्दर नाटक हैं।

सामाजिक क्षेत्र में रेवतीशरण शर्मा ने 'उतार चढ़ाव', 'अँधेरा-उजाला' आदि उत्तम नाटकों की रचना की है। उनके अतिरिक्त सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा ('राख और चिनगारी'), हंसकुमार तिवारी ('पुकार') प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ('चट्टानें'), शिवसागर मिश्र विश्वम्भर 'मानव', सत्येन्द्र शरत् ('आवारा', 'तार के खम्भे') आदि सफल नाटककार हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क का तो सबसे अलग स्थान है। वे एक पुराने एवं मंजे हुए नाटककार हैं। 'शिकारी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा', आदि उनके सफल नाटक हैं।

हास्य-व्यंग्य रूपक लिखने वालों में प्रभाकर माचवे ('राम भरोसे', 'पुराने चावल'), अमृतलाल नागर, जयनाथ 'नलिन' ('नवाबी सनक')' धर्मवीर भारती आदि मुख्य हैं।

संगीत रूपक लिखने में सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त ('रजत शिखर'), उदयशंकर भट्ट ('विश्वामित्र'), सेठ गोविन्ददास ('स्नेह और स्वर्ग') चिरंजीत ('देव और मानव'), गिरिजा कुमार माथुर नरेश मेहता, सिद्धनाथ कुमार आदि को अच्छी सफलता मिली है।

जासूसी रूपक लिखने वालों में सर्वश्री चिरंजीत, अमृतलाल नागर का नाम लिया जा सकता है।

अतिकल्पना लिखने वालों में सर्वश्री गिरिजा कुमार माथुर ('शान्ति विश्वेदेवा:'), सिद्धनाथ कुमार ('लौह देवता'), रामचन्द्र तिवारी ('बन्दिनी', नव प्रभात'), 'अज्ञेय' ('जयदोल,) आदि को प्रशंसनीय सफलता मिली है।

झलकियाँ लिखने में चिरंजीत सब से आगे हैं। प्रभाकर माचवे और मदनमोहन खन्ना भी अच्छे लेखक हैं।

नवोदित रेडियो नाटककारों में सर्वश्री हरिश्चन्द्र खन्ना, चन्द्रकान्त, सुनील शर्मा, मधु, रजनी पनिकर, कृष्णबलदेव वैद, जितेन्द्र शर्मा, स्वदेश कुमार आदि का नाम लिया जा सकता है।

वर्तमान युग की परिस्थितियों को देखते हुए रेडियो नाटक के उज्जवल भविष्य की आशा करना सर्वथा उचित है। सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के साथ रेडियो का प्रचार बढ़ रहा है। अत: नाटककारों को रेडियो के द्वारा जनता के सामने आने का आकर्षक अवसर प्राप्त हो रहा है। यही रेडियो नाटक की उन्नति का मूल है।

हिन्दी आलोचना

साहित्य का निर्माण और उस की आलोचना साथ-साथ चलते हैं। अत: जब से हिन्दी साहित्य का निर्माण प्रारंभ हुआ तभी से हिन्दी आलोचना का प्रारंभ भी मानना चाहिये। यह बात दूसरी है कि हिन्दी

आलोचना अपने विकसित रूप में तब से प्रारंभ नहीं हुई जबसे हिन्दी साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में हुआ। उनसे पहले तुलनात्मक प्रशंसापरक उक्तियों —जैसे; 'सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास, अब के कवि खद्योत सम इत उत करत प्रकास','और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' आदि— में आलोचना के आरंभिक तत्त्व मिलते हैं। रीतिकाल में रस, अलंकार आदि पर जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें सैद्धान्तिक आलोचना के तथा टीकाओं में टिप्पणियों के रूप में व्यावहारिक आलोचना के बीज प्राप्त होते हैं। इन सबको हम हिन्दी आलोचना का अत्यन्त सामान्य पूर्वरूप कह सकते हैं। आलोचना कहला सकने वाली आलोचना भारतेन्दु के समय से प्रारंभ हुई और तभी से यह निरन्तर विकास करती आ रही है। इसके विकास के तीन भाग किये जा सकते हैं।

(१) प्रथम उत्थान—(सन् १८७३-१९००)
(२) द्वितीय उत्थान—(सन्१९००-१९३६)
(३) तृतीय उत्थान—(सन् १९३६ से)

प्रथम उत्थान

इस काल की आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आई जिनमें 'कविवचन सुधा' (१८६८),'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३), 'हिन्दी प्रदीप' (१८८१), 'आनन्द कादम्बिनी' (१८९१), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) का प्रमुख स्थान है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी आलोचना का सूत्रपात किया यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह श्रेय बालकृष्ण भट्ट ('हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक) तथा 'प्रेमघन' ('आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक) को दिया है।

भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' में १८७२ में 'हिन्दी कविता' नाम से एक समीक्षात्मक लेख लिखा। 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद की भूमिका में भी

आलोचना कुछ सम्बंधी कुछ विचारों को स्थान मिला है। 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने नाट्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना की ।

'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' में पुस्तक-परिचय और प्राप्ति स्वीकार के रूप में तथा विस्तृत रूप में भी आलोचनाएँ छपती थीं । विस्तृत आलोचनाओं में श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना उल्लेखनीय है। ये आलोचनाएँ कुछ गंभीर हैं।

इसके बाद 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के पहले अंक में ही जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' का 'समालोचनादर्श' लेख प्रकाशित हुआ जो अंग्रेज़ी लेखक पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म' का पद्यात्मक अनुवाद था। इसी पत्रिका में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' तथा अम्बिकादत्त व्यास का 'गद्यकाव्य मीमाँसा' नाम से और लेख छपे जो सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्धित थे । इनमें अग्निहोत्री का लेख महत्त्वपूर्ण है ।

इस प्रकार प्रथम उत्थान में हिन्दी आलोचना का रूप पर्याप्त अविकसित था । आलोचना का स्थिर मानदण्ड इस काल के लेखकों के सामने न था । पुस्तक-परिचय तथा गुण-दोष परिगणन तक ही आलोचना सीमित थी । लेखक को पुस्तक जैसी लगती थी वैसी सम्मति वह उसके बारे में दे देता था और वह सम्मति पत्रिका में प्रकाशित होकर आलोचना कहलाने लगती थी । इस काल की आलोचना का योगदान इतना ही है कि इसके द्वारा समालोचना के क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से कार्य करने की आवश्यकता को अनुभव किया जाने लगा ।

द्वितीय उत्थान

उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की । द्विवेदी जी मूल रूप में शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे । इसलिये जहाँ उन्हों ने भाषा को परिष्कृत और व्यवस्थित किया वहाँ उन्हों ने आलोचना के लिये सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय भावनाओं

से युक्त एक कसौटी बनायी जिस पर वे साहित्यिक कृतियों को कसा करते थे। इसलिये उनकी आलोचना वैज्ञानिक न होकर केवल गुण-दोष-दर्शन तक सीमित थी। 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' नामक ग्रन्थ में उन्होंने लाला सीताराम कृत कालिदास के नाटकों के अनुवाद की भाषा और भाव सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखलाईं। 'विक्रमाँकदेव चरित चर्चा' तथा ,नैषध चरित चर्चा' में उन्होंने परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने कालिदास की कविता के दोषों का वर्णन किया। 'कवि और कविता' जैसे लेखों में उनकी सैद्धांतिक आलोचना का रूप मिलता है। इस प्रकार द्विवेदी जी स्वयं तो गंभीर समालोचनात्मक साहित्य का निर्माण न कर सके परन्तु हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उन्हों ने जो प्रेरक और निर्देशक का कार्य किया, उसमें उनका बहुत महत्त्व है। उन्होंने 'सरस्वती' में 'पुस्तक परिचय' शीर्षक से एक स्तम्भ शुरु किया जिसमें नियमित रूप से नवीन ग्रन्थों की लघु समीक्षा (रिव्यू) निकलती थी। वास्तव में उन्हों ने ही साहित्यालोचन के विकास की भूमि तैयार की जिसके आधार पर हिन्दी आलोचना पल्लवित हुई। द्विवेदी जी के इस महत्त्वपूर्ण कार्य को देखकर विद्वानों ने उन्हें आधुनिक आलोचना का प्रवर्तक भी माना है।

द्विवेदी जी से प्रेरणा पाकर कुछ अन्य विद्वान् भी समालोचना के क्षेत्र में आए जिनमें सर्वश्री मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, बाबू श्याम सुन्दर दास, कृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन की गणना होती है। मिश्रबन्धुओं का आलोचनात्मक ग्रन्थ है 'हिन्दी नवरत्न'। उसमें उन्होंने 'देव' को सबसे बड़ा कवि माना। इस कार्य में उन्होंने रस, अलंकार, रीति, गुण आदि की प्राचीन समीक्षा-पद्धति का सहारा लिया। यह समीक्षा गंभीर न हो सकी। फिर प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि के ढंग से कवियों का स्थान निश्चित करने की जिस प्रणाली को मिश्रबन्धुओं ने शुरु किया वह बहुत हलकी थी।

इसे तुलनात्मक पद्धति कहना ठीक प्रतीत नहीं होता। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर अच्छी आलोचना की। उन्हें तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्तक कहा जाता है। मिश्रबन्धुओं ने देव को जो बिहारी से ऊपर स्थान दिया उससे प्रेरित होकर शर्मा जी ने बिहारी सतसई का सतसई परम्परा में स्थान निर्धारित करते हुए संस्कृत के सप्तशती साहित्य से उसकी तुलना की तथा बिहारी को श्रृंगार का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। शर्मा जी ने बिहारी की तुलना शेखसादी से भी की और इस प्रकार बिहारी की महत्ता स्थापित करने के प्रयत्न में अनजाने ही तुलनात्मक पद्धति का प्रचलन हो गया। यद्यपि यह समीक्षा रूढ़िगत थी तथापि श्रृंगारी कवियों से अलग करने वाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तः प्रवृत्तियों के उद्घाटन का इसमें अच्छा प्रयत्न हुआ है। देव और बिहारी का यह झगड़ा आगे भी चला। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में बड़ी सभ्यता, शिष्टता और मार्मिकता के साथ देव और बिहारी की रचनाओं का मिलान करते हुए गंभीरतापूर्वक देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया है। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम से समीक्षा लिखी। श्याम सुन्दर दास इस झगड़े से अलग थे। वे सैद्धांतिक समीक्षा पर लिख रहे थे। 'रूपक रहस्य' में उन्होंने भारतीय नाट्य-सिद्धांतों का विवेचन किया तथा 'साहित्यालोचन' में भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के समन्वय से प्रादुर्भूत आलोचना-पद्धति की स्थापना की।

अब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम आता है। द्वितीय उत्थान की समीक्षात्मक प्रवृत्तियों का चरम विकास शुक्ल जी की आलोचना में मिलता है। उन्होंने पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा-सिद्धांतों को भली भाँति हृदयंगम करके जिस आलोचना-पद्धति का प्रवर्तन किया वह उन्ही के नाम से 'शुक्ल पद्धति' कही जाने लगी है। कवियों की तथा उनकी कृतियों की अन्तः प्रवृत्तियों के विश्लेषण की ओर उन्होंने

सबसे अधिक ध्यान दिया और इस कार्य की उनमें पूर्ण क्षमता भी थी। उन्हों ने भारतीय समीक्षा-पद्धति की नई रूपरेखा प्रस्तुत की तथा साहित्य के मूल्यांकन का नवीन और मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। भारतीय साहित्यशास्त्र में वे रसवाद के अनुयायी तथा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र में वे रिचर्ड्स से प्रभावित थे। परन्तु रसवाद और रिचर्ड्स के प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी उनकी दृष्टि स्वतंत्र और मौलिक थी। उनकी समीक्षाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—सैद्धांतिक समीक्षा, व्यावहारिक समीक्षा। सैद्धांतिक समीक्षा के अन्तर्गत 'रस मीमांसा' और चिंतामणि के एतद्विषयक कुछ निबंधों की गणना की जा सकती है। 'साधारणीकरण' पर उनके विचार विचारणीय हैं। व्यावहारिक समीक्षा करते हुए उन्होंने 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में मलिक मुहम्मद जायसी पर, 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका में गोस्वामी तुलसीदास पर तथा 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में सूरदास पर मार्मिक और विद्वत्तापूर्ण आलोचना प्रस्तुत की है। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति के विषय में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के निम्नलिखित शब्द बहुत उपयुक्त हैं, "कवियों और कृतियों की धारावाहिक समीक्षा करने में शुक्ल जी ने एक नई ही पद्धति का आविर्भाव किया, जिसे हम शुक्ल-पद्धति ही कह सकते हैं। शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि अतिशय मार्मिक थी, परिणामस्वरूप उनकी समीक्षाओं ने जो साहित्यिक चेतना उत्पन्न की वह पर्याप्त, विशद और स्वस्थ थी। एक नया मानदण्ड शुक्ल जी ने संस्थापित कर दिया, जिसके आधार पर हिन्दी-समीक्षा उत्तरोत्तर उन्नति करती रही है। वास्तव में शुक्ल जी का समस्त कार्य नवयुग के सच्चे साहित्याचार्य का कार्य है। उन्होंने स्वतः एक नवीन समीक्षा धारा का प्रवर्तन किया। उन्हें किसी प्राचीन मत का उद्घाटन या विश्लेषण मात्र मानना उचित नहीं" (महाकवि सूरदास, प्राक्कथन, पृष्ठ ७)।

निर्दोष तो ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी नहीं। शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि भी सर्वथा दोषमुक्त न थी। वे इतने स्वतंत्र तथा मौलिक चिंतक थे कि अपनी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर ही अपनी समीक्षा दृष्टि को स्थिर करते थे। उनके समीक्षा सम्बंधी मानदण्ड गतिशील न होकर स्थिर थे। वे एक ही चश्मे से सबको देखते थे। यही कारण है कि वे कबीर आदि निर्गुण कवियों की तथा छायावादी कवियों की साहित्य साधना का निष्पक्ष, संतुलित और सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन न कर सके। वाजपेयी जी ने शुक्ल जी के इस अभाव की चर्चा की है। इन अभावों की पूर्ति तृतीय उत्थान में हुई।

तृतीय उत्थान

तृतीय उत्थान में हिन्दी आलोचना की दो दिशाएँ स्पष्ट हो गईं। पहली दिशा में जाने वालों ने शुक्ल जी की पद्धति पर कार्य किया परन्तु उन में से कुछ ने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति में जो कमियाँ थीं, उन्हें दूर करने का यत्न किया। दूसरी दिशा के पथिकों ने मार्क्स के साम्यवाद (प्रगतिवाद) और फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को अपनी समीक्षा पद्धति के मूल में स्थापित किया।

शुक्ल पद्धति के निकट-अनुयायियों में सर्वश्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, गुलाबराय, चन्द्रबली पाण्डेय, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' आदि की गणना की जाती है। मिश्र जी मध्यकालीन कविता के विशेषज्ञ हैं। घनानन्द, भूषण आदि के ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन किया है। रीतिकालीन साहित्य तथा शास्त्रीय समालोचना के वे अच्छे मर्मज्ञ हैं। कृपाशंकर शुक्ल ने बिहारी और केशव पर शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत की है। शर्मा जी ने प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। गुलाबराय का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। उनमें परम्परा पालन के साथ नवीन सामाजिक चेतना भी है। इन आलोचकों ने शुक्ल जी का

अनुकरण तो किया परन्तु शुक्ल जी जैसी अन्तर्दृष्टि के धनी न होने के कारण वे ऐसा कार्य न कर सके जैसा शुक्ल जी ने किया था। किसी नवीन दृष्टिकोण अथवा मान्यता की स्थापना इन लोगों ने नहीं की। शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति की त्रुटियों को भी वे लोग दूर न कर सके।

शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति को आधार बना कर उसकी त्रुटियों का परिमार्जन करते हुए जिन समीक्षकों ने कार्य किया उन में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाम अग्रगण्य हैं। उन की समीक्षा प्रणाली को हम तटस्थ और ऐतिहासिक आधार पर स्थित समीक्षा प्रणाली कह सकते हैं जिस में विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों को ध्यान में रखते हुए किसी रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है। उनकी समीक्षा प्रणाली को स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा प्रणाली भी कहा गया है। परन्तु इस की प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा साहित्यकार की कृति का मूल्यांकन करना है। जब छायावादी कविता पुरातनवादियों के आक्षेपों का शिकार हो रही थी तब वाजपेयी जी उन का पक्ष लेकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे। उन्हों ने छायावाद को हिन्दी काव्य का अभिनद उन्मेष और समाज की नवीन सांस्कृतिक जागृति का सूचक बतलाया। वे शास्त्रीय और सौंदर्यवादी समीक्षक हैं। कवि अथवा काव्य प्रवृति का अध्ययन करते समय वे समाजशास्त्र, दर्शन, साहित्यशास्त्र, कवि के अन्तर्मन एवं उसकी परिस्थिति आदि सब तत्त्वों को ध्यान में रखते हैं। 'जयशंकर प्रसाद', 'हिन्दी साहित्य', बीसवीं शताब्दी', 'नया साहित्य', नये प्रश्न', 'आधुनिक साहित्य' और 'महाकवि सूरदास' उन के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी ने लोकचेतना और लोक संस्कृति के प्रकाश में हिन्दी साहित्य की प्रगति का निरीक्षण किया है। वे हिन्दी साहित्य को भारतीय

साहित्य का अविछिन्न चिन्ता धारा के रूप के विकास में देखते हैं तथा उसे संस्कृत आदि पूर्ववर्ती साहित्य का उत्तराधिकारी मानते हैं। उन्हों ने साहित्य की प्रवृत्तियों तथा उन प्रवृत्तियों की प्रत्येक शक्तियों का अनवेषण किया है। वे साहित्य को उस के समकालीन सांस्कृतिक वातावरण और लोक चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं। उन की समीक्षा की भूमि मानवतावादी रही है। उन्हें चिन्तक और अन्वेषक आलोचक कहा जा सकता है । 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', हिन्दी साहित्य का आदिकाल, नाथ सम्प्रदाय, कबीर, 'साहित्य का मर्म आदि उन के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। इस महाद्वयी के अतिरिक्त इस समीक्षा प्रणाली के पोषकों में सर्वश्री जानकी वल्लभ शास्त्री, राजकुमार वर्मा, लक्ष्मी नारायण 'सुधाँशु, शांतिप्रिय द्विवेदी की भी गणना की जाती है। 'निराला'और 'दिनकर' के कतिपय निबंध भी इसी श्रेणी में आते हैं ।

दूसरी दिशामें जाने वालों के प्रथम वर्ग में मार्क्सवादी आलोचकों की गणना होती है जिन में सर्वश्री शिवदानसिंह चौहान' रामविलास शर्मा, अमृत राय, प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमुख हैं। इन्हों ने साहित्य को जनता के लिये माना परन्तु इस मान्यता का मान दन्ड इन्हों ने इतना कठोर रखा कि बहुत थोड़ी कृतियाँ इन के अनुसार साहित्य की कोटि में आ सकीं। इन लोगों ने साहित्यकारों के लिये जो फरमान जारी किये कि साहित्य में यह होना चाहिये वह होना चाहिये, उन से इन की आलोचना-प्रणाली उतनी स्वस्थ न रह सकी जितनी वह अन्यथा रह पाती। शिवदानसिंह चौहान, अवश्य ऐसे आलोचक हैं जो मतवाद के आग्रह तथा संकीर्णताओं से मुक्त हैं। वे प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) समीक्षा-पद्धति को प्रस्तुत करते हैं, थोपते नहीं । साहित्यिक मर्यादा का वे सदा ध्यान रखते हैं। साहित्यिक मूल्यों को मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से ऊपर रखते हुए उन्हों ने समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति

को अन्य सब पद्धतियों से श्रेष्ठ माना। शेष आलोचकों में मतवादी आग्रह बहुत है। इस पद्धति का योगदान यह है कि इस से साहित्य की सामाजिकता प्रकाश में आई।

दूसरी दिशा में जाने वालों के द्वितीय वर्ग में मनोविश्लेषणवादी आलोचकों की गणना होती है जिनमें सर्वश्री 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, नलिन विलोचन शर्मा तथा नगेन्द्र की गणना होती है। प्रगतिवादियों ने साहित्य को समाज के लिए माना तो इन्होंने उनके विपरीत साहित्य को व्यक्ति के लिये माना। ये लोग साहित्य को सामाजिक अनुभूति का प्रतीक न मानकर वैयक्तिक चेतना का प्रतीक मानते हैं। इनके अनुसार साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब न होकर व्यक्ति (साहित्यकार) के मनोभावों का प्रतिबिम्ब है। इन पर फ्रायड का प्रभाव है। फ्रायड का मत है कि अवचेतन मन में पड़ी हुई अपरितुष्ट प्रवृत्तियों, जिनमें कामवासना की प्रवृत्ति मुख्यतम है, की उदासीकृत अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की समीक्षा प्रणाली एकदम मनोविश्लेषणवादी हैं परन्तु नगेन्द्र में यह अतिवादिता नहीं। वे फ्रायड से प्रभावित तो हैं परन्तु उन्हें फ्रायडवादी कहना गलत है। वे साहित्य को वैयक्तिक अनुभूति का प्रतीक मानने के साथ-साथ उसकी रसवादिता पर भी पूरा बल देते हैं। मूलतः वे रसवादी आलोचक हैं परन्तु साथ ही फ्रायड के सिद्धान्त को भी अपनी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं में स्थान देते हैं। वस्तुतः मनो-विश्लेषणात्मक आधार पर उन्होंने रससिद्धांत की व्याख्या प्रस्तुत की है और यह समन्वयात्मक दृष्टि उन्हें भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों के गहन तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त हुई है। आधुनिक कविता और नाटक के सफल तथा महत्त्वपूर्ण आलोचकों में उनकी गणना होती है। विश्लेषण शक्ति तो उनमें अत्यन्त उच्चकोटि की है। 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण' में उनके समीक्षात्मक निबन्धों का संकलन है। 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेतः एक अध्ययन' उनके प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं।

हिन्दी आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियों पर विकास की दृष्टि से विचार हो चुका है। अंत में दो अन्य समीक्षा धाराओं की ओर भी संकेत कर देना चाहिये जो इन प्रवृत्तियों के बंधन से मुक्त होकर प्रायः प्रारम्भ से ही पनप रही हैं। वे हैं सैद्धान्तिक आलोचना और शोधात्मक आलोचना। सैद्धान्तिक आलोचना के सिलसिले में प्रथम उत्थान के भारतेन्दु कृत 'नाटक' निबंध की; द्वितीय उत्थान के सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'काव्यकल्पद्रुम', 'अलंकार मंजरी', 'रसमंजरी', गुलाबराय कृत 'नवरस', जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'छन्द प्रभाकर', भगवानदीन कृत 'अलंकार मंजूषा', 'अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण' आदि ग्रंथों की गणना होती है। आधुनिक काल में नगेन्द्र कृत 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' और 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' सैद्धांतिक आलोचना के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के मान्य ग्रंथों—साहित्य दर्पण, रसगंगाधर, दशरूपक, काव्यालंकार सूत्र, काव्यादर्श, वक्रोक्ति जीवित आदि—का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मान्य ग्रंथों के अनुवाद में नगेन्द्र कृत 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' तथा 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (लोंगिनुस के 'दि सब्लाइम' का अनुवाद) प्रमुख हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा सिद्धांतों के समन्वय से प्रादुर्भूत सैद्धांतिक आलोचना के ग्रंथों में श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रसमीमांसा', 'सुधांशु' कृत्त 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत', गुलाबराय कृत 'सिद्धांत और अध्ययन', 'सुमन' और मल्लिक कृत 'साहित्य विवेचन' का प्रमुख स्थान है।

शोधात्मक आलोचना वह कहलाती है जो शोध-उपाधि (पी० एच० डी०; डी०, फिल्, डी० लिट्) प्राप्त करने के लिए लिखी जाती है। वास्तविक रूप में शोधात्मक आलोचना का प्रारम्भ डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कृत 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' (१९३४) से होता है। उसके बाद से लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों पर ऐसी

आलोचना की प्रवृत्ति चल पड़ी। शिष्ट साहित्य के अनेक विषयों—भाषा और भाषा विज्ञान, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि और परम्परा, विशेष धारा या प्रवृत्ति, विशेष कवि या विशिष्ट कृति आदि—पर इस प्रकार की आलोचना प्रस्तुत की जा रही है जिस पर आलोचकों को विश्वविद्यालयों से शोध-उपाधि प्राप्त होती है। शोधात्मक आलोचना के सम्बंध में प्रामाणिक सूचना डा० उदयभानु सिंह कृत 'हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबंध' (१९६०) में संगृहीत है।

हिन्दी समीक्षा की वर्तमान प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि यद्यपि वह सर्वथा त्रुटिमुक्त नहीं तथापि उसकी प्रगति पर्याप्त संतोष-जनक है। वह अत्यन्त वेग से आगे बढ़ रही है। उसके वेग में समुचित गहराई भी है। सर्वश्री नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान जैसे आलोचक हिन्दी आलोचना को गौरव प्रदान कर रहे हैं।

हिन्दी कहानी

कहानी उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव जाति। मानव जाति के जन्म के साथ ही कहानी का जन्म हुआ। इस दृष्टि से 'कहानी की कहानी बहुत पुरानी है परन्तु आधुनिक अर्थों में 'कहानी' 'का इतिहास अपेक्षाकृत नवीन ही है और हिन्दी कहानी तो और भी नवीन है। हिन्दी कहानी का आरंभ 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' (सन् १९००) पत्रिकाओं से माना जाता है परन्तु इससे पहले हिन्दी कहानी की भूमिका तैयार हो चुकी थी। १९०२ तक कहानी के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हो चुके थे। वे निम्न थे—

(१) शेक्सपीयर के नाटकों के कथानक की छाया पर वर्णनात्मक कहानियाँ लिखी गईं जिनमें किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती (१९००) मुख्य है। इस पर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' नाटक की

छाया है। अतः इस आधार पर कई लोग इसे हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी नहीं मानते।

(२) स्वप्न शैली में कहानियाँ लिखी गईं जिनमें केशवप्रसादसिंह की 'आपत्तियों का पर्वत' मुख्य है।

(३) सुदूर देशों के काल्पनिक चरित्रों को लेकर अनेक कहानियाँ लिखी गईं। गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पति का पवित्र प्रेम' ऐसी ही कहानी है जिसमें यूरोप के कुछ काल्पनिक पात्र लिए गए हैं।

(४) यात्रा माध्यम से कहानियाँ लिखी गईं जिनमें केशवप्रसादसिंह की 'चन्द्रलोक की यात्रा' प्रमुख है। इसमें यथार्थ तथा कल्पना के सामंजस्य से कथानक का निर्माण हुआ है।

(५) आत्मकथात्मक शैली में कहानियों की रचना हुई। कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदरराव की आत्म कहानी' इसी ढंग की है।

(६) संस्कृत की रचनाओं का कहानी रूप में भाषान्तर किया गया। जैसे 'रत्नावली' नाटिका के आधार पर कहानी लिखी गई।

(७) कथानक प्रधान तथा घटना बहुल कहानियाँ लिखी गईं। पार्वती नन्दन लिखित 'प्रेम का फुआरा' इस प्रकार की मुख्य कहानी है।

इस प्रकार के प्रयोगों के द्वारा हिन्दी कहानी की अच्छी खासी पृष्ठ-भूमि सन् १९०२ तक तैयार हो गई। सन् १९०० में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसी से हिन्दी कहानी का जन्म माना जाता है। अध्ययन की सुविधा के लिये हिन्दी कहानी के विकास को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रथम उत्थान (१९००-१९१८)

(२) द्वितीय उत्थान (१९१८-१९३६)

(३) तृतीय उत्थान (१९३६ से)

प्रथम उत्थान

'सरस्वती' से हिन्दी कहानी के सूत्रपात की चर्चा की ही जा चुकी है। 'सरस्वती' के प्रथम दो वर्षों में हिन्दी कहानी प्रयोग की ही अवस्था में रही है, ऊपर इसकी ओर भी संकेत किया जा चुका है। इससे कहानी के तत्त्वों का रूप स्थिर हुआ। तत्कालीन कहानियों के कथानक में संयोगों की अधिकता तथा घटना बहुलता थी, चरित्र काल्पनिक, स्वच्छन्द परन्तु स्थूल थे तथा शैली वर्णनात्मक थी।

हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के सम्बन्ध में विवाद रहा है। **किशोरीलाल गोस्वामी** की 'इन्दुमती' (१६००), **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** की 'ग्यारह वर्ष का समय' (१६०३), **माधव प्रसाद मिश्र** की 'मन की चंचलता' (१६०१) को पृथक् पृथक् रूप से यह स्थान दिया जाता है।

१६१० तक कुछ आत्मकथात्मक और वर्णनात्मक शैली में लिखी गई, कहानियां सामने आईं जैसे **व्यंकटेशनारायण त्रिपाठी** कृत 'एक अशरफी की आत्मकहानी', **यशोदानन्दन अखौरी** की 'इत्यादि की आत्मकथा', **लाला पार्वतीनन्दन** कृत 'मेरा पुनर्जन्म', **श्रीमती बंगमहिला** कृत 'दुलाई वाली', **वृन्दावनलाल वर्मा** की 'राखी बंद भाई' आदि। इनमें आधुनिक कहानी कला की दृष्टि से पार्वतीनन्दन तथा बंगमहिला के नाम उल्लेखनीय हैं।

१६०७ में काशी से 'इन्दु' के प्रकाशन से हिन्दी कहानी को बहुत प्रोत्साहन मिला। 'इन्दु' में '**प्रसाद**' की प्रथम मौलिक कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। 'इन्दु' में मौलिक कहानियों की अपेक्षा अनुवाद अधिक छपे परन्तु इन अनुवादों ने भी हिन्दी कहानी को पर्याप्त गति दी। 'इन्दु' के अतिरिक्त 'गृहलक्ष्मी' (१६१०), 'कन्या मनोरंजन' (१६१२) आदि से भी हिन्दी कहानी का अच्छा प्रसार हुआ।

सन् १६१५-१६ में **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** की 'उसने कहा था' (१६१५), **विश्वम्भरनाथ जिज्जा** की 'विदीर्ण हृदय' (१६१५),

प्रेमचन्द की 'सौत' (१९१५) और 'पंच परमेश्वर' (१९१६) अत्यन्त सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित हुईं। विशेष रूप से 'उसने कहा था' और 'पंच परमेश्वर' हिन्दी कहानी के दो अमूल्य रत्न हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द और 'प्रसाद' का आगमन १९१६ के आस-पास हिन्दी कहानी में हो गया था। उनके आविर्भाव के समय (१) हिन्दी कहानियाँ आख्यायिका का रूप छोड़ कर आधुनिक रूप धारण करने लगी थीं। (२) अनूदित के स्थान पर मौलिक कहानियाँ अधिक रची जाने लगीं थीं। (३) उनमें यथार्थता की भावना आने लगी थी। (४) सामान्य चरित्र भी कहानी में आने लगे थे, तथा (५) घटनाओं के द्वारा पात्रों का चरित्र अंकित किया जाने लगा था। हिन्दी कहानी की इस दशा में प्रेमचन्द और 'प्रसाद' का आगमन हुआ।

द्वितीय उत्थान

प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को चरित्र प्रधान, मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी रूप दिया। उन्होंने कुल मिला कर कोई तीन सौ कहानियाँ लिखीं जिनको एक साथ 'मानसरोवर' (६ भाग) में संगृहीत करके प्रकाशित किया गया है। प्रेमचन्द की कहानियों में कथानक गौण तथा चरित्र-चित्रण प्रधान होता है। उपन्यासों के समान कहानियों के लिए भी प्रेमचंद ने सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र को चुना। उन्होंने नागरिक जीवन तथा ग्राम्य जीवन का तुलनात्मक चित्रण किया। वास्तव में प्रेमचन्द उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में अधिक सफल रहे। उन्हें यदि 'कहानी सम्राट' कहा जाये तो वह अधिक उचित होगा। प्रेमचन्द की कहानियों में चरित्र-चित्रण एकदम मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है। उनके पात्र अपने वर्ग की समस्याओं के प्रतिनिधि बन कर आते हैं। समाज के निम्न वर्ग के शोषित और पीड़ित पात्र ही उनकी कहानियों में स्थान पाते हैं। उनकी सी सरल, चुस्त और प्रभावशाली भाषा लिखने में अन्य कोई लेखक उनका पूर्णतया सफल अनुकरण न

कर सका। प्रेमचन्द अपनी इन कहानियों को सर्वश्रेष्ठ समझते थे— 'राजा हरदौल', 'रानी सारंधा', 'सौत', 'पंच परमेश्वर', 'आत्मा राम', 'मंदिर और मस्जिद' 'दुर्गा का मंदिर', 'ईश्वरीय न्याय', 'नमक का दरोगा', 'सती', 'कामना तरु', 'लांछन'।

प्रेमचन्द का अनुकरण करने वालों में 'कौशिक', सदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा आदि प्रमुख हैं। 'कौशिक' पारिवारिक कहानियों के लेखक हैं जिनका लक्ष्य है सुधार। परन्तु प्रेमचंद के विपरीत वे चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक को प्रधानता देते हैं। 'चित्रशाला' और 'कलामन्दिर' उनके कहानी संग्रह हैं तथा 'ताई' उनकी अमर कहानी है। सुदर्शन प्रेमचन्द के पूर्ण अनुयायी थे। विषय और भाषा में प्रेमचंद को अपना आदर्श मानकर जीवन के सत्य को उन्होंने उद्घाटित किया है। 'सुदर्शन सुमन', 'सुदर्शन सुधा', 'तीर्थयात्रा', 'पनघट' उनके कहानी संग्रह हैं तथा 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री', 'संसार की सबसे बड़ी कहानी', 'सूरदास' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। ज्वालादत्त शर्मा भी 'कौशिक' की तरह पारिवारिक कहानियों के लेखक हैं। 'अनाथ बालिका' उनकी प्रसिद्ध कहानी है।

'प्रसाद' भी प्रेमचंद के साथ ही आये थे। भावपूर्ण, कल्पना प्रधान, सरस तथा साहित्यिक कहानियों का सूत्रपात 'प्रसाद' ने ही किया। वे मूलतः कवि थे अतः उनकी कहानियों में उक्त गुणों का होना स्वाभाविक ही है। उन्होंने कुल ६९ कहानियाँ लिखीं जो 'छाया' 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'इन्द्रजाल' और 'आँधी', इन पाँच संग्रहों में संगृहीत हैं। चरित्र या घटना के स्थान के परे भाव उनकी कहानियों का केन्द्र होता है। उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, चरित्रप्रधान, यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखीं परन्तु वातावरणप्रधान कहानियों में वे विशेष सफल हुए। स्वच्छन्दता तथा अन्तर्द्वन्द्व उनकी कहानियों में मिलते हैं। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'मधुआ' आदि उनकी सुन्दर कहानियाँ हैं।

'प्रसाद' का अनुकरण करने वालों में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', राय कृष्णदास, विनोद शंकर व्यास आदि प्रमुख हैं। राजा जी एकदम 'प्रसाद' के अनुकर्ता हैं। 'गाँधी टोपी', 'सावनी समा', और 'कुसुमांजलि' में उनकी कहानियाँ संगृहीत हैं। 'कानों में कंगना', 'दरिद्रनारायण' आदि उनकी विख्यात कहानियाँ हैं। 'हृदयेश' भी 'प्रसाद' के एकदम अनुयायी हैं। 'नन्दन निकुंज' और 'वनमाला' में उनकी कहानियों के संग्रह हैं। 'उन्मादिनी', 'शान्तिनिकेतन', 'समर्पण' आदि उनकी सुन्दर कहानियाँ हैं। राय जी प्रतीकात्मक कहानियों के प्रसिद्ध लेखक हैं। उनका विषयक्षेत्र 'प्रसाद' से व्यापक है परन्तु शैली 'प्रसाद' वाली ही है। उनके कहानी संग्रहों के नाम हैं 'सुधांशु', 'अनाख्या', 'आँखों की थाह', 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'प्रसन्नता की प्राप्ति' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। व्यास जी की अधिकांश कहानियाँ 'मधुकरी' (२ भाग) में संगृहीत हैं। विषय प्रेमचंद का तथा शैली 'प्रसाद की है।

'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री ने भी इस काल में कहानियाँ लिखीं। दोनों ने प्रेमचंद की सुधारवादी कहानियों की प्रतिक्रिया में नग्नयथार्थवादी कहानियाँ लिखीं। 'उग्र' की कहानियाँ 'दोज़ख की आग', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' में संगृहीत हैं। हिन्दू मुस्लिम एकता, देशप्रेम आदि पर भी उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं। 'देशभक्त' उनकी देशप्रेम सम्वन्धी प्रसिद्ध कहानी है। शास्त्री जी की लेखनी बहुत शक्तिमती है। 'रजकण', 'अक्षत', 'दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर' आदि में उनकी कहानियाँ संगृहीत हैं।

इसी काल में मनोविश्लेषणवादी तथा प्रगतिशील कहानियों का भी सूत्रपात हो चुका था और अच्छे परिमाण में उनकी रचना प्रारंभ हो गई थी परंतु प्रवृत्ति के रूप में तृतीय उत्थान में ही वे उभर सकीं।

तृतीय उत्थान

मनोविश्लेषणवादी तथा प्रगतिशील कहानियों का इस काल में काफी प्रचार तथा प्रसार हुआ।

मनोविश्लेषणात्मक कहानीकारों में मुख्य रूपेण जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय' तथा इलाचन्द्र जोशी की गणना होती है।

जैनेन्द्र कुमार मानवचरित्र के कुशल शिल्पी हैं। उनकी कहानियों में कथानक स्वल्प तथा चरित्र का विश्लेषण प्रधान रहता है। चरित्र की जटिलताओं और उलझनों को चित्रित करना ही उनका ध्येय है। उन्होंने लगभग २०० कहानियाँ लिखीं जिनका संग्रह 'फाँसी', 'दो चिड़ियाँ', 'स्पर्द्धा', 'वातायन', 'एक रात', 'नीलम देश की राजकन्या', 'ध्रुवयात्रा' आदि में हुआ है। दार्शनिकता भी उनकी कहानियों में मिलती है। नारी-हृदय का विश्लेषण करने में जैनेन्द्र जी को अनुपम दक्षता प्राप्त है। 'जाह्नवी', 'अपना पराया', 'मास्टर जी' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

अज्ञेय पर मनोविश्लेषण का प्रभाव और भी अधिक है। वे फ्रायड से बहुत प्रभावित हैं। उनके चरित्र मानसिक ग्रन्थियों के शिकार हैं और एकदम अन्तर्मुख (अपनी समस्याओं में डूबे हुए) हैं। प्रत्येक कहानी में जीवन का अन्त:संघर्ष चित्रित रहता है। उनके कवित्व का प्रभाव भी उनकी कहानियों पर है। उनकी कहानियों का संग्रह 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात' आदि में हुआ है। 'रोज़' 'विपथगा' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

इलाचन्द्र जोशी भी 'अज्ञेय' की परम्परा में आते हैं। मनोविश्लेषण के सैद्धान्तिक पक्ष पर उनका बहुत आग्रह है। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को केन्द्र बनाकर वे कहानी लिखते हैं जिससे कहानी कला का समुचित निर्वाह नहीं हो पाता। यथार्थवादी वातावरण, बौद्धिकता, व्यक्तित्व विश्लेषण, कलावादिता, निम्नमध्यवर्ग की पात्र-योजना, कथा-तत्व की स्पष्टता आदि उनकी कहानी कला की

प्रमुख विशेषताएँ हैं। 'दिवाली और होली', 'धूपलता' आदि उनके मुख्य कहानी संग्रह हैं तथा 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', 'मिस्त्री', 'रोगी' 'परित्यक्ता' आदि उन की प्रमुख कहानियाँ हैं।

प्रगतिशील कहानीकारों में यशपाल का नाम सबसे पहले आता है। 'अश्क' का भी ऐसी कहानियाँ लिखने वालों में अच्छा स्थान है।

यशपाल ने उपेक्षित जनजीवन को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया। वे साम्यवादी साहित्यकार हैं इसलिये साहित्य के द्वारा शोषक वर्ग पर उन्होंने निर्मम प्रहार किये हैं। उनमें सामाजिकता मिलती है। प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का उग्र रूप उनकी कहानियों में मिलता है। कला की दृष्टि से वे बेजोड़ कहानीकार हैं। स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर भी उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं जिसमें वे सफल रहे हैं। 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'वो दुनिया', 'अभिशप्त' आदि उनके कहानी संग्रह हैं तथा 'डरपोक कश्मीरी', 'सबकी इज्जत' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

'अश्क' में व्यावहारिक यथार्थवाद है तथा यशपाल की अपेक्षा सन्तुलन अधिक है। मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं पर उन्होंने सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे सफल कहानीकार हैं। 'निशानियाँ', 'छींटे', 'दो धारा' आदि उनके कहानी संग्रह हैं और 'मौसी 'डाची', 'मोती' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

प्रगतिशील कहानियों के अन्य लेखकों में राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, हंसराज 'रहबर', अमरतराय, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, त्रिलोचन आदि मुख्य हैं। राहुल जी ने प्रागैतिहासिक काल की घटनाओं में प्रगतिशील तत्त्व खोजे हैं।

मनोविश्लेषणात्मक कहानियों के अन्य लेखकों में रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' का मुख्य स्थान है। फ्रायड से प्रभावित होते हुए भी वे पूर्णतः फ्रायडवादी नहीं। वस्तुतः प्रेमचन्द और गुलेरी ने उन्हें

अधिक प्रभावित किया है। उनकी 'सड़क पर' और 'मुरली' कहानियाँ प्रेमचन्द और गुलेरी की क्रमशः 'कफन' और 'उसने कहा था' की याद दिलाती हैं। तथापि कहीं कहीं 'पहाड़ी' मनोविश्लेषणवाद की धारा में पूरी तरह वह गये हैं।

ये दोनों तृतीय उत्थान की मुख्य धाराएँ थीं परन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' की यथार्थवादी सामाजिक कहानियाँ और भावप्रधान कहानियाँ इस युग में भी लिखी गई। 'प्रसाद' की परम्परा में सर्वश्री गोविन्द वल्लभ पन्त, मोहनलाल महतो वियोगी, कमलाकान्त वर्मा आदि का नाम आता है। प्रेमचन्द की परम्परा में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि का नाम आता है। इन लोगों ने प्रेमचन्द की परम्परा को ग्रहण करते हुए आधुनिक कहानी कला की वैज्ञानिकता का उसमें समावेश किया है।

वर्तमान पीढ़ी के कलाकारों में सर्वश्री राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, द्विजेन्द्र प्रसाद मिश्र 'निर्गुण', कमल जोशी, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकान्त, निर्मल वर्मा, कुलभूषण, शेखर जोशी, शिवप्रसाद सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त, कीर्ति चौधरी, मन्नू भण्डारी रजनी पनिकर, फणीश्वरनाथ 'रेण' आदि का नाम लिया जा सकता है। मोहन राकेश आदि नगरों के वातावरण से अपने विषय चुनते हैं और भैरवप्रसाद गुप्त आदि गाँवों से। किसी एक वाद से ये लोग प्रभावित नहीं। प्रत्येक प्रकार के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से कहानियों के कथानक का चुनाव किया जाता है। इस प्रकार सब तरह की कहानियाँ आजकल देखने में आ रही हैं।

बिलकुल नई कहानी समस्यामूलक है और इसका रूप सांकेतिक है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जा रही है।

विदेशी कहानियों का अनुवाद भी किया जा रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कहानी साहित्य का कलेवर बढ़ता चला जा रहा है। 'नई कहानियाँ' (राजकमल प्रकाशन) आदि केवल कहानी की

पत्रिकाएं भी निरन्तर लोकप्रियता प्राप्त करती जा रही हैं। प्रायः सभी पत्र कहानी को अवश्य स्थान देते हैं।

हिन्दी कहानी की वर्तमान गति और विगत प्रगति निश्चय ही सन्तोष-जनक है। उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा सहज ही की जा सकती है।

हिन्दी निबंध

हिन्दी निबंध के विकास को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रथम उत्थान—(सन् १८७३-१६००)
(२) द्वितीय उत्थान—(सन् १६००-१६३६)
(३) तृतीत उत्थान—(सन् १६३६ से)

प्रथम उत्थान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् १८७३ से 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' प्रारंभ की। तभी से हिन्दी निबंध का सूत्रपात समझना चाहिये। यों इससे पहले 'बनारस अखबार', 'सुधाकर', 'बुद्धिप्रकाश', 'प्रजाहितैषी', 'कवि-वचन सुधा' आदि पत्र-पत्रिकाओं में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विषयों पर प्रकाशित टिप्पणियों और लघुलेखों ने निबंध साहित्य के अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी परन्तु उन टिप्पणियों और लघु-लेखों में निबंधत्व नहीं था। 'निबंध' कहलाने वाली रचनाएं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही प्रारंभ हुईं।

इस काल के मुख्य लेखकों में सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाल कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वाला प्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास का नाम लिया जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र देश और समाज की दशा से बहुत दुःखी थे। अतः उनके निबंध मुख्य रूपेण सामाजिक हैं। समाज के सभी पक्षों की दुर्बलताओं को उन्होंने अपने निबंधों का विषय बनाया। धर्म के क्षेत्र में फैले हुए अन्धविश्वासों पर खेद प्रकट किया है; यात्रा सम्बन्धी निबंधों

में विभिन्न स्थानों के रीति रिवाज, सरकारी नौकरों की धाँधली, रेलों की अव्यवस्था और सामाजिक अवनति पर उन्होंने विचार किया है। उनके शास्त्रीय आलोचनात्मक निबंधों में 'नाटकों' का स्थान सर्वप्रथम है। हास्य व्यंग्य प्रधान निवंधों की परम्परा में 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' की गणना होती है। सांस्कृतिक निबन्धों में उन्होंने 'वैष्णवता और भारतवर्ष, की रचना की। इस प्रकार विषय और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के निवन्धों में विविधता के दर्शन होते हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने भी भारतेन्दु की भाँति अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे। 'चन्द्रोदय' आदि भावात्मक, 'खटका','इंग्लिश पढ़े तो बाबू होय' आदि हास्य-व्यंग्य प्रधान, 'आत्मनिर्भरता', 'माधुर्य','आशा' उनके मनोवृत्ति-परक निबन्ध हैं। शैली के भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि अनेक रूप हैं। परन्तु मुख्य रूप से वे विचारात्मक निबंध लिखने वाले गंभीर शैली के लेखक थे। उनका व्यंग्य भी गंभीर होता था। वे अत्यन्त प्रगतिशील तथा समाज सुधारक साहित्यकार थे।

प्रतापनारायण मिश्र मौजी, विनोदी, फक्कड़ और अक्खड़ तबियत के लेखक थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव उनके निवन्धों पर पूरी तरह पड़ा है। उनके निवन्ध व्यक्तिप्रधान हैं। विषय प्रधान निबंधों में भावात्मक, विनोदपूर्ण, व्यंग्यपूर्ण, विचारात्मक आदि सभी प्रकार के निबंधों की रचना उन्होंने की है परन्तु उनका फक्कड़पन सभी में मिलता है। 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'नाक','ट' आदि विनोदपूर्ण तथा 'मनोयोग','नास्तिक' आदि उनके विचारात्मक निबंध हैं।

बालमुकुन्द मिश्र टकसाली भाषा के निबंधकार थे जिन्होंने साहित्य में प्रचलित व्यंग्यात्मक शैली को अधिक गंभीर, सांकेतिक और व्यंजक बनाया। भाषा पर उनका अपूर्व अधिकार था। युगानुरूप सजगता उनमें अपने साथियों से अधिक थी। 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' उनकी कीर्ति के स्थायी स्मारक हैं। उनके निबंधों में गंभीरता, व्यंग्यात्मकता तथा मर्मस्पर्शिता का अद्भुत मेल है।

निबंध साहित्य की दृष्टि से भारतेन्दु काल का एकदम विशिष्ट स्थान है। इस काल में निबंध पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही जनता के सामने आते थे। भारतेन्दु 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के, मिश्र जी 'ब्राह्मण' के, भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के और गुप्त जी 'भारतमित्र' तथा 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक थे। अतः इस काल की निबंध कला में पत्रकारिता-कला की विशेषताओं की झलक आना स्वाभाविक ही है। विषय की विविधता, सामाजिक और राजनैतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गम्भीरता आदि गुण जो इस काल में पाये जाते हैं, पत्रकारिता से अधिक सम्बन्धित हैं। दूसरी बात यह है कि इस काल के निबंधकार समाज के सक्रिय कार्यकर्ता थे। अतः पेशे से सम्पादक होने के कारण स्वभावतः निबंधों के द्वारा ही ये लोग सामाजिक चेतना का प्रसार किया करते थे। अतः इस काल में साहित्य के किसी भी अन्य रूप की अपेक्षा निबंध सबसे अधिक लिखे गये। इस काल के निबंधों में कृत्रिमता के स्थान पर नैसर्गिकता पाई जाती थी। ये लोग जो लिखते थे, दिल से लिखते थे। हार्दिकता इनके निबंधों में सर्वत्र मिलती है। इस काल में हलके से हलके और गंभीर से गंभीर विषय पर निबंधों की रचना हुई। इन निबंधों में जो सजीवता और जिन्दादिली मिलती है वह हिन्दी निबंध में फिर देखने को नहीं मिली। विदेशी शासन पर शब्द प्रहार के साथ-साथ समाज की रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास पर निर्मम व्यंग्य करने से ये न चूकते थे। वस्तुतः इस काल के निबंधों को जातीय या राष्ट्रीय निबंध कहा जा सकता है। जनता के अन्दर जागृति फैलाना ही इनका उद्देश्य था। यही कारण है कि न तो इस काल के निबंधों में बुद्धिवैभव तथा पांडित्य का प्रदर्शन है और न ही ग्रंथ-ज्ञान का विज्ञापन है। वक्तव्य पर अधिक बल देने के कारण भाषा पर भी इस काल में ध्यान नहीं दिया गया। अतः बाह्य आकार की दृष्टि से इस काल के निबंधों में अस्थिरता पाई जाती है। यह कमी द्वितीय उत्थान में पूर्ण हुई परन्तु इन निबंधों की

सामाजिकता, शक्ति, सजीवता और मनोरंजकता फिर लौट कर न आ सकी।

द्वितीय उत्थान

प्रथम उत्थान की भाषा और शैली सम्बन्धी त्रुटियों का परिमार्जन द्वितीय उत्थान में हुआ तथा इस कार्य को करने वाले थे **आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी**। 'सरस्वती' के सम्पादक-पद से उन्होंने इस कार्य को सम्पन्न किया तथा हिन्दी गद्य शैली को संयत और स्थिर बनाया। इस प्रकार शैली-परिष्कार तो उन्होंने किया ही, साहित्य का निर्माण करने में भी वे पीछे न रहे।

प्रथम उत्थान के निबंध सामाजिक थे किन्तु इस युग के निबंध नैतिक हो गये। सजीवता और फक्कड़पन का स्थान गंभीरता और विचारपूर्णता ने ले लिया। निबंध सार्वजनिक न होकर शिष्ट तथा शिक्षित जनसमुदाय की पाठ्य सामग्री बन गये। द्विवेदी जी ने बेकन के निबंधों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से किया और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से चिपलूणकर के निबंधों का अनुवाद किया। इससे विचारपूर्ण निबंधों को लिखने की परम्परा पड़ गई।

द्विवेदी जी की परम्परा में **श्यामसुन्दर दास**, **मिश्रबन्धु** और **बाबू गुलाबराय** का नाम आता है। स्वयं द्विवेदी जी ने 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि कर्त्तव्य' आदि कुछ साहित्यिक निबंध लिखे जिनमें विचारात्मकता कम और जानकारी देने का प्रयास अधिक मालूम होता है। परन्तु 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्कर दूत कार्य' आदि में रोचकता और स्वच्छन्द आत्मीयता मिलती है। **श्याम सुन्दर दास** ने साहित्यिक निबंधों की रचना की जिनमें विचारात्मकता मिलती है परन्तु उनकी विद्वत्ता ने उनके निबंधों के निबंधत्व को विकसित न होने दिया। उनके निबंधों में सरसता की कमी है। **मिश्रबन्धुओं** के निबंध मुख्य रूप से प्रचारात्मक और शिक्षामूलक रहे हैं। **बाबू गुलाब**

राय ने सामाजिक और नैतिक विषयों पर निबंध रचना की है। बाबूजी का निबंध-रचनाकाल बहुत लम्बा है।

द्विवेदी जी के घेरे से बाहर एक और त्रिमूर्ति निबंधरचना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उस त्रिमूर्ति के सदस्य हैं सर्वश्री माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्ण सिंह। मिश्र जी के निबंधों में मार्मिकता मिलती है। त्योहारों, तीर्थ-स्थानों आदि पर लिखे इनके निबँधों में इनका देश प्रेम, इनकी विद्वत्ता और भारतीय संस्कृति तथा सनातनधर्म के प्रति इनकी निष्ठा भली भाँति दिखाई पड़ती है। 'सब मिट्टी हो गया' उनका सुन्दर भावात्मक निबंध है। उनकी भाषा साफ सुथरी और प्रसादपूर्ण है। गुलेरी विचार और शैली की दृष्टि से अपने समय के सबसे प्रगतिशील लेखक हैं। उनके व्यंग्य में परिष्कार और शक्ति है। 'कछुआ धरम' में हिन्दुओं की पलायनप्रियता, प्रतिरोध शक्ति का अभाव और अन्धी रूढ़िवादिता पर व्यंग्य कसे गये हैं। उनकी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक चेतना अत्यन्त जागरूक और समृद्ध थी। मौलिक चिन्तन और सूक्ष्म विश्लेषण उनकी रचनाओं में मिलता है 'मारेसि मोहिं कुठाँव', 'संगीत' आदि उनके गिने चुने प्रसिद्ध निबंध हैं। उनकी भाषा में शक्ति और शैली में प्रौढ़ता मिलती है। सरदारपूर्णसिंह एक उदार और भावुक लेखक थे। 'आचरण की सभ्यता', 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' उनके प्रसिद्ध निबंध हैं जिनमें मानवतावाद की अभिव्यक्ति मिलती है। पूर्णसिंह में जो नई चेतना मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। विचारात्मकता और भावात्मकता का उनमें समन्वय मिलता है। शैली में लाक्षणिकता तथा भाषा में प्रवाह उनके निबंधों की विशेषताएँ हैं।

रामचन्द्र शुक्ल इस उत्थान के महत्त्वपूर्ण निबंधकार हैं। इनके मनोवृत्तिपरक निबंधों का हिन्दी निबंध साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उच्चकोटि के चिन्तन प्रधान निबंधों की परम्परा को आगे बढ़ा

कर उसका चरम विकास करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। मनोविकारों का जैसा साहित्यिक तथा व्यावहारिक विवेचन शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। शुक्ल जी की शैली में विषय-निष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता का समन्वय मिलता है। उनके निबंधों में विषय प्रतिपादन ही मुख्य होता है परन्तु उनके व्यक्तित्व की छाप भी निबंधों पर स्पष्ट रूप में विद्यमान रहती है। विद्वत्ता के साथ गंभीरता, सहृदयता, संयम और मर्यादा प्रेम—जो उनके व्यक्तित्व के प्रमख गुण हैं—उनके निबंधों में पूर्णतया झलक उठते हैं। उनके विवेचन में वैज्ञानिक सूक्ष्मता के बीच कवि की सहृदयता भी झाँकती रहती है। उनके निबंध प्रधान रूप से विचारात्मक हैं। प्रत्येक अनुच्छेद नई से नई विचार सामग्री से परिपूर्ण है। वे पाठक को चिन्तन का अवसर प्रदान करते हैं। क्रम और व्यवस्था, सूत्रात्मकता, भाषा की शक्तिमत्ता, अनुभूति की सचाई उनके निबंधों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। 'क्रोध', 'भय', 'ईर्ष्या', आदि मनोविकार-विषयक निबंधों के अतिरिक्त 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आदि उनके समीक्षात्मक निबंध भी हैं। 'चिंतामणि' (२ भाग) में उनके निबंधों का संकलन है। 'अन्त: प्रयास से निकली विचारधारा' के निबंध लेखकों में शुक्ल जी का स्थान सबसे ऊपर है।

कविता के क्षेत्र में यह युग छायावाद का था। छायावादी कवियों के प्रभाव से इस युग में भावात्मक निबंधों की रचना ही अधिक हुई जिन्होंने आगे चलकर गद्यगीत और गद्यकाव्य का रूप धारण कर लिया। रामकृष्ण दास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी और महाराजकुमार, रघुवीर सिंह ऐसे ही लेखक हैं। सुमित्रानन्दन पन्त के निबन्धों में बुद्धितत्त्व की अपेक्षा भावतत्त्व अधिक है। 'प्रसाद ने साहित्य के मूलतत्त्वों से सम्बन्धित निबंधों की रचना की है। 'निराला' का क्षेत्र व्यापक है। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक

समस्याओं पर विचार किया है। महादेवी ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में विचारात्मक निबंध लिखे हैं।

इस प्रकार द्वितीय उत्थान में निबंध साहित्य का अनेकमुखी विकास हुआ। विषय की दृष्टि से इस काल के निबंधों को निम्न-लिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) साहित्य तथा भाषा सम्बंधी निबंध।
(२) इतिहास तथा पुरातत्त्व सम्बंधी निबंध।
(३) विज्ञान तथा आविष्कार सम्बंधी निबंध।
(४) भूगोल सम्बंधी निबंध।
(५) जीवनचरित सम्बंधी निबंध।
(६) अध्यात्म सम्बंधी निबंध।
(७) अन्य विषय सम्बंधी निबंध।

विषय के साथ शैली में भी वैविध्य की प्रवृत्ति इस काल में दीखती है। मुख्य रूप से चार प्रकार की शैली इस उत्थान में प्रयुक्त हुई—

(१) वर्णनात्मक शैली।
(२) विवरणात्मक शैली।
(३) भावात्मक शैली।
(४) विचारात्मक शैली।

द्वितीय उत्थान के निबंधों के विषयचयन में विस्तार हुआ तथा ज्ञान-विज्ञान के विषयों पर निबन्ध लिखे गये। विचारप्रधान निबन्धों की रचना में बहुत सफलता मिली तथा गंभीर मनोभावों का सुन्दर विवेचन हुआ। भारतेन्दु के समय में ज़िन शैलियों ने जन्म लिया था उनका समुचित विकास इस काल में हुआ। कुल मिला कर हिन्दी निबंध साहित्य के विकास की दृष्टि से द्वितीय उत्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तृतीय उत्थान

तृतीय उत्थान में जो साहित्यकार कवि, नाटककार, कहानीकार, इतिहासज्ञ और समीक्षक आदि थे उन्होंने भी निबन्ध लेखन का कार्य किया। कला, साहित्य और संस्कृति के विषय में अनेक निबन्धों की रचना हुई। आलोचनात्मक निबन्धों की तो बाढ़ सी आ गई है। इस काल के प्रमुख निबन्धकारों में सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, सियारामशरण गुप्त, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय' नगेन्द्र आदि की गणना की जा सकती है। इनमें भी हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशेष स्थान है। उन्हों ने साहित्य, समाज, धर्म, कला ज्योतिष इत्यादि सभी पर लिखा। उनमें अनुसन्धानात्मक गंभीर निबन्ध लिखने की क्षमता तो है ही, जीवन के सामान्य विषयों पर भी वे सहज आत्मीयता से विचार कर लेते हैं। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता' उनके निबंध संग्रह हैं। सरलता के साथ व्यंग्य विनोद, सरसता और विद्वत्ता का अपूर्व सम्मिलन द्विवेदी जी के निबन्धों में मिलता है। उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण विस्तृत, व्यापक और उदार है। वस्तुतः द्विवेदी जी को निबन्ध लिखने में विशिष्ट सफलता मिली है। जैनेन्द्र जब निबन्ध लिखते समय दार्शनिकता का आँचल छोड़कर सहज स्वाभाविकता धारण कर लेते हैं, वहाँ पाठक उनके निबन्धों पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। 'आप क्या करते हैं', 'कहानीं नहीं', 'बाजार दर्शन' उनके ऐसे ही रोचक निबन्ध हैं। प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से आकर्षक निबन्धों की उन्होंने रचना की है। भाषा की सहजता और बातचीत वाली शैली से निबन्ध की गंभीरता बोझिल नहीं मालूम पड़ती। जैनेन्द्र विचारात्मक निबन्धकार हैं। 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'पूर्वोदय', जैनेन्द्र के निबन्ध संग्रह हैं। सियारामशरण गुप्त के निबंध में गाँधी जी की विचारधारा, सहजता, आस्तिकता और करुणा के साथ कवि सुलभ भावुकता तथा

स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'झूठ सच' उनका निबंध संग्रह है। 'बहस की बात', 'एकदिन' आदि उनके हृदयग्राही निबंध हैं। विनोदपूर्ण, सरस तथा आत्मीय शैली में लिखे हुए उनके निबंध मनोरंजक भी हैं, मार्मिक भी। रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय', नगेन्द्र आदि आलोचनात्मक निबंधकार हैं। 'अज्ञेय' के निबंध 'आत्मनेपद' में, नगेन्द्र के निबंध, 'विचार और अनुभूति,' 'विचार और विवेचन,' 'विचार और विश्लेषण', 'काव्यचिन्तन' में संगृहीत हैं। अन्य निबंधकारों में सर्वश्री सद्गुरुशरण अवस्थी, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि का नाम लिया जा सकता है। सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय आदि लेखकों ने कला, साहित्य और संस्कृति पर निबंध लिखे हैं।

गद्यकाव्य और संस्मरण भी निबंध के ही रूप हैं परन्तु वे अब इतने महत्त्वपूर्ण हो गये हैं कि उन पर अलग से विचार करना ही उचित प्रतीत होता है।

वास्तव में निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण गद्य रूप है। किसी भाषा और साहित्य की गहराई और ऊंचाई का सूचक उसका निबंध साहित्य ही होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार निबंध गद्य की कसौटी है। सभी विषयों पर निबंध लिखे जा सकते हैं। अभी हिन्दी में गंभीर और विचारपूर्ण शैली में राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर निबंध कम ही दिखाई दे रहे हैं परन्तु इनकी तरफ लेखकों का ध्यान जा रहा है, यह असन्दिग्ध है। हलके विषयों को गंभीर शैली में तथा गंभीर विषयों को आत्मीय और सहज शैली में प्रस्तुत करना आधुनिक हिन्दी निबंध की मुख्य प्रवृत्ति है। उसमें जीवन के सामान्य विषयों का विवेचन भी है और गंभीर विषय भी उसकी परिधि में आ रहे हैं। हिन्दी निबंध की नवीनतम प्रवृत्ति को देखते हुए उसके भविष्य के विषय में आशापूर्ण दृष्टिकोण बनाना उचित ही होगा।

हिन्दी गद्य के गौण रूप

नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध—ये पांच गद्य के मुख्य रूप माने जाते हैं। गद्य के गौण रूपों में गद्य-काव्य, जीवनी-आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, इण्टरव्यू, रिपोर्ताज, पत्र और डायरी तथा लघुकथा की गिनती होती है। हिन्दी साहित्य में इन गद्य रूपों के अंतर्गत भी साहित्य लिखा गया है परन्तु परिमाण की दृष्टि से उसकी सीमाएँ संकुचित ही हैं।

गद्य-काव्य—भावात्मक निबंधों के विकसित रूप को ही गद्य-काव्य कहा जाता है। परंतु इसी से उसे निबंध का एक रूप मानकर उस पर पृथक् विचार न करना ठीक नहीं। वास्तव में उसकी आत्मा भावों की दृष्टि से इतनी समृद्ध होती है कि उसने अपना एक पृथक् अस्तित्व ही बना लिया है। उसे अब गद्य का एक स्वतंत्र रूप स्वीकृत किया जा चुका है। डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने हिन्दी गद्य-काव्य पर शोध-कार्य भी किया है।

छन्द बंधन रहित और इतिवृत्तहीन ऐसी भावपूर्ण कल्पना प्रधान रचना को गद्य-काव्य कहा जाता है, जिसमें बुद्धितत्त्व को विशेष महत्त्व न दिया गया हो। गद्य-काव्य और गद्य-गीत में भेद होता है। श्री रामदहिन मिश्र के शब्दों में, "गद्य-काव्य में कल्पना की प्रधानता होती है। उसमें अनेक भावों और रसों की अवतारणा की जा सकती है। पर गद्य-गीत में एक ही भाव की थोड़े से संगीतात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति होती है" (काव्य दर्पण, पृष्ठ ३५९)।

हिन्दी गद्य-साहित्य में दोनों ही प्राप्त होते हैं। महाराजकुमार रघुवीर सिंह और माखनलाल चतुर्वेदी की लम्बी रचनाएँ गद्य-काव्य में आती हैं जिनका प्रारंभ भारतेन्दु के भावपूर्ण समर्पणों से हुआ तथा राय कृष्णदास और दिनेशनंदिनी डालमिया की छोटी रचनाएं गद्य-

गीत कहलाती हैं जिनका प्रचलन रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का हिन्दी अनुवाद होने पर हुआ।

आंशिक रूप में गद्य काव्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, बालकृष्ण भट्ट, 'प्रेमघन', 'गोविन्द नारायण मिश्र, व्रजनन्दन सहाय आदि की रचनाओं में मिलता है।

सन् १९१३ में 'गीतांजलि' को नोबल पुरस्कार मिला और सर्वत्र उसकी ख्याति हो गई। 'गीतांजलि' ने हिन्दी गद्य लेखकों का ध्यान गद्य-गीत की ओर आकृष्ट किया तथा इस प्रकार की रचनाएँ हिन्दी में आने लगीं।

रायकृष्ण दास हिन्दी गद्य-गीत के प्रथम लेखक माने जाते हैं। उन पर 'गीतांजलि' का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। 'साधना', 'छायापथ' 'प्रवास' उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं, जिनमें रहस्यमयता और आध्यात्मिकता मिलती है। भाषा परिष्कृत और संयत है। **वियोगी हरि** ने भक्ति प्रधान तथा देश-प्रेम पूर्ण गद्य-गीतों की रचना की। 'तरंगिणी', 'अंतर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना' आदि उनकी मुख्य कृतियाँ हैं। **चतुर्सेन शास्त्री** के 'अंतस्तल', 'जवाहर', 'तरलाग्नि' आदि गद्य-गीत के संग्रहों में मनोभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। इनमें सामाजिकता की भावना है और शैली में संगीत का माधुर्य। **दिनेश नन्दिनी डालमिया** सर्व प्रसिद्ध गद्य-गीत लेखिका हैं। उन्होंने प्रचुर परिमाण में गद्य-गीत लिखे हैं। 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशी रव', 'उन्मन' 'स्पन्दन' आदि उनके गद्यगीत संग्रह हैं। प्रेम की वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति उनके गद्यगीतों में मिलती है। दिनेशनंदिनी को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गद्य-गीतकारों में अत्यन्त सम्मान का स्थान प्राप्त है।

हिन्दी गद्य-काव्य के मुख्य लेखकों **महाराजकुमार रघुवीरसिंह** और **माखनलाल चतुर्वेदी** की गणना होती है। रघुवीरसिंह ने 'शेष

स्मृतियाँ' और 'जीवनधूलि' की रचना की। अतीत को उन्होंने अपने गद्यकाव्यों का विषय बनाया है। मुगलकालीन स्थलों और घटनाओं पर उन्होंने अलंकृत भाषा में करुणा और विषाद से पूर्ण लम्बे गद्य-काव्यों का प्रणयन किया है। चतुर्वेदी जी के 'साहित्य देवता' का हिन्दी गद्यकाव्य में एक विशिष्ट और बहुसम्मानित स्थान है। इसका मूल स्वर राष्ट्रीयता का है। राष्ट्र को साहित्य का देवता मानकर उसके प्रति मार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त किया गया है। वक्रोक्ति, विरोधा-भास और सूक्ति आदि का आकर्षक प्रयोग किया गया है।

इस गद्य रूप को समृद्ध करने वालों में भँवरमल सिन्धी ('वेदना') ब्रह्मदेव ('निशीथ,' 'आँसू भरी धरती') 'रावी, ('पूजा','शुभ्रा,) 'अज्ञेय' ('चिन्ता, भग्नदूत,) रामकुमार वर्मा ('हिमहास,) तेजनारायण 'काक' ('मदरा,) आदि का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है।

जीवनी-आत्मकथा—जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण होने से हमारे यहाँ जीवनी और आत्मकथा लिखने की प्रथा नहीं थी। पश्चिम के सम्पर्क से इसे प्रोत्साहन मिला है।

जीवनी साहित्य में सब प्रकार के व्यक्तियों, सन्त और धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक की जीवनियाँ लिखी गई। सन्तों में स्वामी-दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द,रामकृष्णपरमहंस, स्वामी श्रद्धानन्द पर अच्छी जीवनियाँ लिखी गई हैं। ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियों में देवीप्रसाद मुंसिफ कृत 'मानसिंह, संग्रमसिंह राणा, आदि, कार्तिक-प्रसाद खत्रीकृत 'महाराजा विक्रमादित्य', सम्पूर्णानन्दकृत 'सम्राट् हर्ष-वर्धन' आदि प्रमुख हैं। राजनैतिक नेताओं में अलगूराय शास्त्री कृत लाला लाजपतराय, सीताराम चतुर्वेदी कृत महामनामालवीय, बनारसीदास चतुर्वेदी कृत भारतभक्त ऐण्ड्रूज, गोपाल प्रसाद व्यास कृत 'हमारे राष्ट्रपिता' आदि अच्छी जीवनियाँ हैं। विदेशी महापुरुषों में नेपोलियन बोनापार्ट, गेरीवाल्डी, सुकरात, मैक्समूलर, कार्लमार्क्स, स्टालिन,

हिटलर आदि के जीवन चरित लिखे गये। शहीदों पर बनारसी दास चतुर्वेदी के सम्पादन में 'शहीद ग्रंथमाला' का आयोजन प्रशंसनीय है।

आत्मकथाएँ हिन्दी में कम ही हैं। प्राचीनतम आत्मकथा जैन कवि बनारसीदास कृत 'अर्द्धकथा' (१६४१) हैं। आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द का 'स्वरचित जीवन चरित', सत्यानन्द अग्निहोत्री कृत 'मुझ में देव जीवन का विकास', स्वामी श्रद्धानन्द कृत 'कल्याण मार्ग का पथिक', भाई परमानन्द कृत 'आपबीती', भवानीदयाल संन्यासी कृत 'प्रवासी की आत्मकथा', डा० राजेन्द्रप्रसाद कृत 'आत्मकथा', मूलचंद अग्रवाल कृत 'पत्रकार की आत्मकथा', भगवानदास कृत 'मेरा साहित्यिक जीवन', सेठ गोविंददास कृत 'आत्मनिरीक्षण', रामप्रसाद बिस्मिल कृत 'आत्मकथा, इत्यादि आत्मकथाएँ लिखी गई हैं।

संस्मरण- पंडित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी के संस्मरण साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इसके बाद इस क्षेत्र में बनारसीदास चतुर्वेदी, इन्द्रविद्यावाचस्पति, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र, 'प्रभाकर, राहुल सांकृत्यायन, महादेवी वर्मा, शिवरानी देव प्रेमचंद का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने पत्र पत्रिकाओं में अनेक संस्मरण लिखे। ग्रन्थाकार प्रकाशित संस्मरणों में 'संस्मरण' (बनारसीदास चतुर्वेदी) 'मेरे पिता' (इंद्रविद्यावाचस्पति), प्रेमचंद घर में (शिवरानीदेवी) 'जो मैं भूल न सका' (भदंत आनन्द कौसल्यायन), 'बापू की पावन स्मृतियाँ' (घनश्यमदास बिड़ला), भूले हुए चेहरे (कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर') उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश समय समय पर राष्ट्रसेवियों और साहित्यिकों को दिए जाने वाले अभिनन्दन ग्रंथों में, अवसानों परान्त निकलने वाले स्मृति-ग्रन्थों में तथा पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में उपलब्ध होता है। यदि इन सबका संग्रह हो जाए तो हिन्दी का संस्मरण साहित्य आकार के साथ साथ भाव की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

रेखाचित्र—हिन्दी में इस विषय में श्रीराम शर्मा कृत 'बोलती प्रतिमाएँ', महादेवी वर्मा कृत 'अतीत के चलचित्र,' बनारसी दास चतुर्वेदी कृत 'रेखाचित्र,' रामवृक्षवेनी पुरी कृत 'माटी की मूरतें', 'मील के पत्थर', प्रकाशचन्द गुप्त कृत 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्कैच', 'प्रभाकर' कृत 'दीपजले शंख बजे' आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। हास्य और व्यंग्यमय रेखाचित्र लिखने वालों में 'निराला ('कुल्लमीभाट, बिल्लेसुर बकरिहा') और जयनाथ नलिन (शतरंज के मुहरे) अग्रणी हैं। भाव की दृष्टि से हिन्दी का रेखाचित्र-साहित्य वस्तुतः प्रशंसनीय हैं।

इण्टरव्यू—हिन्दी में यह अत्यन्त न्यून मात्रा में है। डा० 'कमलेश' की 'मैं इनसे मिला' (दो भाग) इस प्रकार की अत्यन्त रोचक कृति है। बिहार की 'नई धारा' पात्रिका में अब नियमित रूप से इण्टरव्यू छपने लगे हैं।

रिपोर्ताज़—इसमें आँखों देखे हाल का अत्यन्त सजीव भाषा में वर्णन किया जाता है। रांगेय राघव (तूफानों के बीच), शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृतराय, हंसराज रहबर, प्रभाकर माचवे आदि ने इस दिशा में कार्य किया है।

पत्र और डायरी—पत्र साहित्य में बैजनाथसिंह विनोद की द्विवेदी पत्रावली, बनारसीदास चतुर्वेदी और हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित पद्मसिंह शर्मा के पत्र, और डायरी साहित्य में 'नईधारा' पत्रिका में रामवृक्ष बेनीपुरी की डायरी और महादेव भाई की डायरी (अनूदित) आदि इनी-गिनी कृतियाँ हैं।

लघुकथा—इस दिशा में सर्वश्री 'रावी,' ब्रजलाल बियाणी, तारकेश्वर मैतिन आदि लेखकों ने कुछ कार्य किया है।

इनके अतिरिक्त गद्य के माध्यम से प्रकट होने वाले वैज्ञानिक एवं अन्य विषयों—जैसे विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, समाजशास्त्र, इंजीनियरिंग, इतिहास व राजनीति, अध्यात्म और दर्शन, कोश, व्याकरण,

भाषाविज्ञान, कला और संस्कृति, यात्रा, आखेट आदि पर हिन्दी में प्रचुर मात्रा में साहित्य का निर्माण हो रहा है। परन्तु अभी समृद्ध भाषाओं के साहित्य से हम लोग काफी पीछे हैं।

उपसंहार

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी गद्य की बहुमुखी उन्नति हो रही है। राष्ट्रभाषा पद प्राप्त करने के बाद हिन्दी पर आज दायित्व बहुत बढ़ गया है। हिन्दी सेवी इस दायित्व को अनुभवकर उसके विविध अंगों को पुष्ट बनाने में लगे हुए हैं। प्रगति की वर्तमान गति बहुत तेज़ है।

आयु की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी गद्य को अभी प्रायः नौ दशाब्दियाँ ही बीती हैं। उसके इस जीवन में समय-समय पर महत्वपूर्ण मोड़ आये। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' या 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का आरम्भ सन् १८७३ से हुआ। १८७३ से १९०० तक हिन्दी गद्य में भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की प्रधानता रही। यही उसका प्रथम चरण है। १९०० से १९३६ तक उसका द्वितीय चरण रहा। इसके पूर्वार्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उत्तरार्ध में 'प्रसाद' और प्रेमचन्द की प्रधानता रही। १९३६ से इसका तीसरा चरण शुरू हुआ। तृतीय चरण के साहित्यकारों पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या साम्यवाद का प्रभाव रहा। नई पीढ़ी पर प्रयोगवाद का प्रभाव दिखाई दे रहा है। हिन्दी-गद्य के विकास की यही स्थूल रूप-रेखा है। विकास का यह मानचित्र प्रत्येक विद्यार्थी के सामने रहना चाहिए जिससे वह आधुनिक गद्य-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते समय स्वयं को एक आधार पर स्थित अनुभव करे। नई वृत्तियों के विषय में तो परिचयात्मक रूप से ही कुछ कहा जा सकता है, विश्लेषणात्मक रूप से नहीं।

गद्य-रूपों का सामान्य परिचय

निबन्ध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है, "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों से ही सबसे अधिक संभव होता है" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४६३)। इन शब्दों से गद्य साहित्य में निबन्ध का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। गद्य साहित्य के अन्य रूपों—नाटक, कहानी, आदि—में गद्य का प्रयोग माध्यम के रूप में किया जाता है परन्तु निबन्ध में गद्य-रचना ही साध्य होती है। निबन्ध के लिए गद्य साध्य है, साधन नहीं। इसके साथ ही उसमें गद्य शैली का पूर्ण विकास भी मिलता है।

निबंध का शाब्दिक अर्थ है पूर्णतः गठित अर्थात् निबंध में बंधन और व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। परन्तु अंग्रेजी 'ऐसे'—जिसके लिए हिन्दी में 'निबंध' शब्द का व्यवहार होता है—में ऐसी व्यवस्था का पूर्ण अभाव माना गया है। वहाँ निबंध को 'निर्बन्ध' माना गया है। डॉक्टर जान्सन के शब्दों में यह 'मन की एक शिथिल तरंग' (ए लूज़ सैली ऑफ माइन्ड) है, वेकन के अनुसार 'विखरा चिन्तन' (डिस्पर्स्ड मेडिटेशन) है और चेस्टरटन के मत में 'विदग्ध प्रलाप' (ब्रिलियण्ट नॉन्सेन्स) है। वास्तव में निर्बन्धत्व तो निवंध की एक विशेषता है, वह उसकी व्यवस्था पर कोई आघात नहीं करती। वैयक्तिक तत्त्व आ जाने के कारण निवंध में निर्बन्धत्व आ जाता है। लेखक अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार विषय का निबंधन करता है, विषय उसका निवंधन नहीं करता और यही निर्बन्धत्व है।

निबंध की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं—"निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय या वर्णन का प्रतिपादन विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो (गुलाबराय, काव्य के रूप, पृष्ठ २२१)। "निबंध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है," (जयनाथ 'नलिन', 'हिन्दी निबंधकार', पृष्ठ १०)।

इन परिभाषाओं से निबंध की चार विशेषताएँ सम्मुख आती हैं—एकसूत्रता, वैयक्तिकता, आत्मीयता, कलात्मकता। एकसूत्रता तो निबंध का प्राणतत्त्व है, व्यवस्था उसमें अनिवार्यतः होनी चाहिये। पत्तों की भीतरी नसों के समान निबंध के सूत्र बिखरे हुए दिखाई देने पर भी मूलतः परस्पर सम्बद्ध होने चाहियें। वैयक्तिकता भी निबंध का महत्वपूर्ण गुण है। लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रतिफल निबंध में अवश्य होना चाहिए। वास्तव में व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही निबंध में एकसूत्रता आती है। इस प्रकार एकसूत्र के लिए वैयक्तिकता आवश्यक है तथा वैयक्तिकता से निबंध के विषय-प्रतिपादन में आत्मीयता आती है। आत्मीयता के द्वारा ही लेखक अपने पाठक के समीप पहुँचता और इसी के द्वारा ही पाठक अपने निबंध के विषय को आत्मसात् कर पाता है। कलात्मकता निबंध की वह विशेषता है जिसके कारण वह सृजनात्मक साहित्य का अंग बनता है। निबंध मूलरूप में एक कलाकृति है। काव्यकला के सब गुण इसमें होने चाहियें। इन चारों विशेषताओं के द्वारा ही निबंध का साहित्यिक वैभव सम्पन्न होता है, इनके अभाव में उसमें सरसता नहीं आ पाती।

निबंध एक सुगठित रचना होती है, उसके गठन के तीन स्तर हैं—

प्रस्तावना अथवा उठान, विवेचन अथवा विकास, परिणाम अथवा समाप्ति। प्रस्तावना में लेखक विषय का प्रारम्भ करता है तथा विवेचन में विस्तारपूर्वक विषय को उपस्थित करता है और परिणाम में विषय का समाहार करते हुए वह प्रभावपूर्ण ढंग से निबंध का सार रख देता है।

निबंध का विषय-क्षेत्र भी एक विचारणीय प्रश्न है। वास्तव में निबंध के विषय-क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। हलके से हलके और गंभीर से गंभीर विषय पर निबंध की रचना की जा सकती है। 'कुछ' या 'कुछ नहीं' से लेकर आत्मा के स्वरूप तक उसका विस्तार है। आकाश के तारों से लेकर धूल के ढेर तक और अमीबा से लेकर मनुष्य तक कोई ऐसी सामग्री नहीं जो निबंध का विषय न बन सके।

निबंधों का वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि विषय और शैली की उनमें कोई सीमा नहीं, तथापि हम उनके तीन मुख्य वर्ग बना सकते हैं—वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक। वर्णनात्मक निबंधों में वर्णन या विवरण की प्रधानता होती है। उसमें कल्पना, भाव और विचार तीनों ही मिलते हैं परंतु कल्पना की प्रधानता होती है। सजीवता इनका आवश्यक तत्त्व है। इनकी शैली प्रसादपूर्ण होती है। विचारात्मक निबंधों में बुद्धितत्त्व की प्रधानता होती हैं, उनमें चिंतन और विश्लेषण मिलता है। विचारात्मक निबंध मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं—दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक। समास व्यास शैली या सूत्र वृत्ति शैली में ही प्रायः ये निबंध लिखे जाते हैं। भावात्मक निबन्धों में हृदय पक्ष की प्रधानता होती है। ये बहुत सरस होते हैं। ये ही भावात्मक निबंध जब इतने भावपूर्ण हो जाते हैं कि कल्पना और विचार का स्थान उनमें नगण्य हो जाता है, तब वे गद्य-गीत या गद्य-काव्य कहलाते हैं। इनमें प्रलाप

शैली या विक्षेप शैली, धारा शैली या प्रवाह शैली और तरंग शैली का प्रयोग होता है।

वास्तव में निबंध ही एक ऐसा गद्य-रूप है, जिसमें विचारों को स्थान मिलता है। उपन्यास, कहानी आदि में तो विचारात्मकता दोष बन जाती है, परंतु निबंध में वही गुण होती है। अतः किसी भाषा के गद्य साहित्य की श्रेष्ठता का आधार निबंध को ही माना जाता है।

उपन्यास

अंग्रेजी 'नाविल' के लिए हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग होता है। वर्तमान अर्थ में यह शब्द बंगला से हिन्दी में आया है। वहाँ 'नाविल' की विशेषताओं वाली गद्य रचना को उपन्यास कहा गया है। बंगला साहित्य का हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव रहा है, यह शब्द भी उसी प्रभाव का परिणाम है। मराठी में उपन्यास को 'नवल कथा' या 'कादम्बरी' कहते हैं।

संस्कृत में भी 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उपन्यास के दो अर्थ हैं—प्रसन्न करना (उपन्यासः प्रसादनम्—साहित्यदर्पण ६/६) और युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना (उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः प्रकीर्तितः)। यों तो ये दोनों विशेषताएँ आधुनिक उपन्यास में मिलती हैं परन्तु इसी आधार पर दोनों में कोई सम्बन्ध जोड़ना उचित न होगा क्योंकि ऐसा सम्बन्ध जोड़ने के लिए हमारे पास कोई प्रयास नहीं है। यही कहना शुद्ध है कि उपन्यास शब्द अंग्रेज़ी 'नाविल' का प्रमाण पर्यायवाची है और बंगला से वह हिन्दी में आया है।

उपन्यास के स्वरूप के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत दिये हैं। प्रेमचन्द कहते हैं, "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है" (कुछ विचार, पृष्ठ ३८)। गुलाबराय

कहते हैं, "उपन्यास कार्य कारण शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है" (काव्य के रूप, पृष्ठ १६१)। गुलाबराय की परिभाषा व्यापक होते हुए भी लम्बी हो गई। श्यामसुन्दर दास की परिभाषा बहुत युक्तियुक्त बन पड़ी है, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है" (साहित्यालोचन, पृष्ठ १४७)। इन परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उपन्यास में मानव जीवन का चित्र होता है। वह चित्र स्वयं तो काल्पनिक होता है परन्तु उसका आधार वास्तविक होता है।

उपन्यास का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। रूप-विधान की दृष्टि से घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, नाटकीय, रस प्रधान आदि; कथावस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक, सामाजिक, तिलस्मी, जासूसी आदि; उद्देश्य की दृष्टि से सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक, जागरण सुधारणमूलक, मनोविश्लेषणात्मक, मनोरंजन प्रधान आदि उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

उपन्यास के तत्त्व निम्नलिखित माने जाते हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य और शैली। उपन्यासकार अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी एक को प्रधानता देकर उपन्यास लिखता है।

कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक, सामाजिक, जासूसी, रोमांटिक अथवा नित्य-प्रति के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं में से कोई भी हो सकता है। कथावस्तु के संघटन की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। उसमें व्यवस्था होनी चाहिए, कथासूत्र बिखरे हुए न होकर एक सूत्र में बंधे हों। घटनाओं का विकास इस प्रकार दिखाया जाये कि वे एक दूसरे में से स्वभावतः निकलती जायें। उनमें अनुपात

भी होना चाहिये। जिस घटना का जितना महत्व हो, उतना ही उसका विस्तार होना चाहिए। कथानक में गति भी होनी चाहिए। गति के अभाव में पाठक ऊब जाता है और गति के सद्भाव में रोचकता और कुतूहल वृत्ति (आगे क्या हुआ) उत्पन्न होती है जो कथानक का महत्त्व-पूर्ण गुण है। कथानक स्वाभाविक होना चाहिए। स्वाभाविकता के दोनों रूप—जैसा है और जैसा हो सकता है—उसमें होने चाहियें। कथानक का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है मौलिकता। यों तो सब उपन्यासों के कथानक मूल रूप में इने गिने वर्गों में ही रखे जा सकते हैं तथापि मौलिकता उसमें आवश्यक है। आजकल का जीवन बहुत जटिल है। उसकी समस्याएँ भी अनेक हैं, अतः मौलिकता की गुंजायश बढ़ गई है। कथानक के नियोजन में तो मौलिकता अवश्य ही होनी चाहिए। यह संभव है कि घटनाएँ नवीन न हों परन्तु उन्हें प्रस्तुत करने का ढंग तो नवीन हो ही सकता है। उपन्यासकार को इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए। कथावर्णन की चार शैलियाँ मुख्य रूप से प्रचलित हैं—(क) प्रथम पुरुष की शैली। इसमें 'वह' का भी प्रयोग होता है। लेखक तटस्थ रह कर कथा का वर्णन करता है। इसे 'एक था राजा' शैली कहते हैं। (ख) उत्तम पुरुष की शैली। इसमें 'मैं' का प्रयोग होता है। इसे आत्मकथात्मक शैली कहते हैं। (ग) पत्र-शैली, पत्रों के द्वारा कथानक आगे बढ़ता है परन्तु इसमें उपन्यासकार पर अनेक आवश्यक प्रतिबंध लग जाते हैं। (घ) नाटकीय शैली—इसमें नाटक का सा वातवरण होता है, घटनाओं में प्रत्यक्षता और दृश्यात्मकता होती है तथा कथोप-कथन का प्रयोग होता है। यही शैली सबसे अधिक प्रचलित है।

चरित्र-चित्रण उपन्यास का महत्वपूर्ण तत्त्व है। कथावस्तु से उसका महत्त्व अधिक होता है। मानव पाठक की सहानुभूति चरित्र के साथ ही हो सकती है,घटनाओं के साथ नहीं। वास्तव में पात्रों के चरित्र निखारने में ही घटनाओं की सार्थकता है। चरित्र अनेक प्रकार के होते

हैं। वे वर्गगत भी होते हैं, व्यक्तिगत भी। वर्गगत पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। उनकी समस्याएँ उनके वर्ग की समस्याएँ होती हैं। व्यक्तिगत चरित्र अपनी तरह के अकेले होते हैं। वे आदर्श और यथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं। आदर्श में सद्गुण ही होते हैं और यथार्थ में सद्गुणों और दुर्गुणों का मेल होता है। एक और वर्गीकरण के अनुसार गत्यात्मक (विकसनशील) और स्थिर, दो प्रकार के होते हैं। चरित्र विकसनशील ही होने चाहिएँ। परिस्थितियों से प्रभावित होने पर वे विकसनशील कहलाते हैं और प्रभावित न होने पर स्थिर कहलाते हैं। स्थिर चरित्र अपवाद होते हैं। चरित्र-चित्रण की शैली मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषण प्रधान और परोक्ष अथवा नाटकीय। प्रत्यक्ष विधि में उपन्यासकार चरित्र का स्वयं ही विश्लेषण करता है, वह प्रणाली वर्णनात्मकता लिए हुए होती है। लेखक स्वयं ही चरित्र की विशेषताओं को प्रकट कर देता है। परोक्ष शैली में नाटकीय ढंग से चरित्र का चित्रण होता है। उसमें उपन्यासकार कुछ नहीं कहता, पात्रों के कर्म उनके चरित्रों को प्रकट करते हैं। इसमें घटनाओं तथा पात्रों की उक्तियों द्वारा उनके चरित्र का ज्ञान होता है। चरित्र-चित्रण की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। उपन्यास के पात्र व्यक्तित्ववान् होने चाहिएँ। वे लेखक के हाथ की कठपुतली न बन जायें, न ही वे किसी विशेष सिद्धांत के प्रतिपादक ही हों। उनका अपना व्यक्तित्व हो। वे सजीव और स्वाभाविक हों। उनमें सजीव स्वाभाविकता और स्वाभाविक सजीवता होनी चाहिये। उनमें संगति भी होनी चाहिये, अंतर्विरोध का उनमें अभाव हो। इन गुणों से युक्त चरित्र ही स्थायी और श्रेष्ठ बन पाते हैं।

देशकाल को वातावरण भी कहते हैं। उपन्यास की घटनाएँ किसी स्थान पर घटित होती हैं और किसी समय में घटित होती हैं। यही उपन्यास का देशकाल है। उपन्यास में भौतिक वातावरण के अतिरिक्त

जो सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण रहता है वह भी देशकाल के अंतर्गत आता है। उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में बुन्देलखंड के भौतिक वातावरण का चित्रण है और प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांधी युगीन भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण है। उपन्यास में देशकाल का तत्व संयत मात्रा में होना चाहिए। न तो वह देशकाल से सर्वथा शून्य हो और न ही उससे सर्वथा अभिभूत हो।

उद्देश्य को उपन्यास में प्रधानता मिलनी चाहिये या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि उद्देश्य-हीन साहित्य रचना तो सिद्धांततः अमान्य है। जब कुछ लिखा जाता है तो किसी उद्देश्य से ही लिखा जाता है। इसलिए उपन्यास का भी कोई न कोई उद्देश्य होता है, उसका अपना जीवन-दर्शन होता है। इसलिए उपन्यास में किसी उद्देश्य अथवा विचार का प्रतिपादन हो तो वह स्वाभाविक ही है, परन्तु यह प्रतिपादन स्थूल न होना चाहिए। उसका स्पष्ट रूप से वर्णन न किया जाय। वह व्यञ्जित रूप में होना चाहिये। वह सूक्ष्म रूप में उपन्यास में व्यक्त होना चाहिये अन्यथा उपन्यास के कला-सौंदर्य को क्षति पहुँचती है।

शैली में भाषा और कथोपकथन पर विचार होता है। विषयानुसार भाषा का प्रयोग उपन्यास में अभीष्ट है। भाव प्रधान उपन्यासों में काव्यात्मक भाषा, मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में सांकेतिक भाषा तथा सामाजिक उपन्यासों में प्रसादपूर्ण भाषा का प्रयोग होना चाहिये। लेखक को भाषा की अर्थशक्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। इसी प्रकार कथोपकथन का प्रयोग भी उसे कुशलतापूर्वक करना चाहिए। पात्रानुकूलता के साथ ही उसमें स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता और संक्षिप्तता के गुण होने चाहियें।

उपन्यास आजकल बहुत लोकप्रिय हैं। पद्य में गौरव की दृष्टि से

जो स्थान महाकाव्य का है, गद्य में वही स्थान उपन्यास का है। महाकाव्य में जीवन का पूर्ण चित्र होता है, उपन्यास में भी जीवन की व्यापकता होती है। अतः गद्य प्रधान युग में उपन्यास की लोकप्रियता और महत्ता स्वाभाविक ही है।

नाटक

भारतीय साहित्यशास्त्र में नाटक को बहुत महत्त्व दिया गया है। उसका प्रथम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' (भरत मुनि कृत) भी नाटक के विषय में लिखा गया। यह महत्त्व इसलिये दिया गया कि नाटक एक शक्तिमान् तथा व्यापक साहित्य-रूप है। उसमें प्रभावोत्पादन की शक्ति सबसे अधिक होती है क्योंकि वह आँखों से देखा जाता है। प्रत्यक्ष होने के कारण वह बहुत प्रभाव उत्पन्न करता है। सामान्य जनता भी उसका आनन्द ले सकती है। नाटक को 'पंचम वेद' भी कहा गया है।

शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व होता है। संगीतकला, नृत्यकला, चित्रकला, काव्यकला आदि सभी कलाओं का प्रदर्शन नाटक में हो जाता है। उसकी रमणीयता सबसे बढ़ कर है। इसीलिये 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की उक्ति का प्रचलन हुआ।

गुलाबराय जी के अनुसार नाटक के मूल में चार प्रवृत्तियाँ काम करती हैं—अनुकरण, पारस्परिक परिचय के द्वारा आत्मा का विस्तार, जाति की रक्षा, आत्माभिव्यक्ति। इसमें अनुकरण की प्रवृत्ति मुख्य है। इसीसे नाटक में वास्तविकता की झलक आती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में नाटक के तीन तत्त्व माने गये हैं—कथावस्तु, नायक, रस। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में इनकी संख्या छः हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य, शैली।

कथावस्तु तीन प्रकार की हो सकती है—ऐतिहासिक, काल्पनिक और मिश्रित। परन्तु आधुनिक युग में यह वर्गीकरण पूर्णतया मान्य नहीं हो सकता। आज तो सामाजिक, राजनीतिक, समस्यामूलक आदि अनेक प्रकार के कथानक हो सकते हैं।

कथावस्तु के संगठन पर हमारे यहाँ बहुत विचार हुआ है। उसके विकास के सम्बन्ध में पाँच अर्थ-प्रवृत्तियों (बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी, कार्य), पाँच कार्यावस्थाओं (आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम), और पाँच सन्धियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण) की कल्पना की गई। कथानक को मुख्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कार-पूर्ण अंश को अर्थप्रकृति कहते हैं। फल प्राप्ति की इच्छा से किये गये कार्यव्यापार के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को कार्यावस्था कहते हैं। अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के मेल को सन्धि कहते हैं। पश्चिम में भी कथावस्तु के विकास के कुछ ऐसे ही पाँच स्तर माने गये हैं—प्रारंभ, विकास, चरम विकास, उतार, समाप्ति। वहाँ संघर्ष को नाटक का प्राण माना जाता है, हमारे यहाँ फल प्राप्ति को जो कि आनन्दमूलक होती है।

कई घटनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें विस्तारभय से या अन्य कारण-वश रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता। उनकी सूचना दी जाती है। इन सूचनाओं के जो साधन होते हैं वे अर्थोपेक्षक कहलाते हैं। ये भी पाँच होते हैं—विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, प्रवेशक।

आधुनिक नाटकों का वस्तुविधान उपर्युक्त रीति से नहीं चलता। उनमें प्रायः तीन अवस्थाएँ ही दीख पड़ती हैं—आरंभ, विकास, परिणाम। लघु आकार में होने के कारण उनके लिये तीन स्तर ही उपयुक्त बन पड़ते हैं।

नायक या पात्र के विषय में भी हमारे यहाँ काफी विचार हुआ है। नायक के लिये अनेक गुणों से युक्त होने का विधान किया गया। नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, पवित्र, वक्ता आदि होना चाहिये। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत और धीरोदात्त। इनकी अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। नायक के समान नायिकाएँ भी कतिपय आवश्यक गुण सम्पन्न मानी गई हैं। उनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार नायिका को नायक की पत्नी होना आवश्यक नहीं, यद्यपि भारतीय साहित्यशास्त्र में इसके विपरीत माना गया है। जो स्त्री चरित्र और कार्य की दृष्टि से प्रमुखता प्राप्त कर लेगी, वही नायिका कहलायेगी। हमारे यहाँ विदूषक को भी विशिष्ट स्थान दिया गया है। यह हास्य का आलम्बन होता था। पेटू ब्राह्मण को ही विदूषक बताया जाता था। पश्चिम में भी एक ऐसा पात्र होता है जिसे 'क्लाउन' कहते हैं परन्तु विदूषक क्लाउन से बढ़कर नायक का मित्र, परामर्श दाता और कार्यसाधक होता है।

इन पात्रों के चरित्र-चित्रण पर बहुत ध्यान दिया जाना चाहिये। चारित्रिक उत्थान पतन, मानसिक उतार चढ़ाव और विभिन्न भावों की योजना चरित्रों में होनी चाहिये। उनमें अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व का सफल चित्रण होना चाहिये। चरित्रचित्रण के तीन साधन हैं—कथोपकथन, स्वगत-कथन तथा कार्यकलाप। इनके द्वारा लेखक अपने चरित्रों की विशेषताएँ प्रकट करता है।

कथोपकथन नाटक का अन्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यह नाटक का मुख्य आधार होता है। इसे नाटक की ऐकान्तिक विशेषता माना गया है। यह तीन प्रकार का होता है---(क) नियत श्राव्य—इसे कुछ पात्र ही सुन पाते हैं। (ख) सर्व श्राव्य—इसे सब लोग सुन सकते हैं। (ग) अश्राव्य—इसे कोई नहीं सुन पाता। इसे स्वगत कथन

भी कहते हैं। नाटक के कथोपकथन संक्षिप्त होने चाहियें। लम्बे होने से कार्यव्यापार में उनके द्वारा बाधा पहुँचती है। वे अभिनय के अनुकूल भी होने चाहियें।

देशकाल के सही चित्र के लिये नाटक में रंगमंच की सज्जा पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। गुप्तकालीन नाटक के रंगमंच पर आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों को दिखाना देशकाल-विरुद्ध होगा।

नाटक के उद्देश्य के लिये पृथक् रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। सामान्य रूप से साहित्य का जो उद्देश्य होता है वही नाटक का भी समझना चाहिये। अभिनयात्मक होने के कारण नाटक के उद्देश्य को व्यक्त करने के लिये नाटककार को अत्यन्त कौशल का आश्रय लेना पड़ता है।

संकलनत्रय की पाश्चात्य धारणा का नाटक में विशिष्ट स्थान है। स्थान, समय और कार्य का संकलन या एकता नाटक में होनी चाहिये। घटनाओं के घटित होने का स्थान एक ही दिखाना चाहिये। घटनाओं के घटित होने में समय का व्यवधान अधिक न होना चाहिये और कथावस्तु या कार्य व्यापार अविच्छिन्न रूप से चलना चाहिये। इससे प्रभाव की एकता में वृद्धि होती है।

नाटक दुःखान्त हों या सुखान्त, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। भारतीय धारणा साहित्य को आनन्दमूलक मानने के कारण नाटक को सुखान्त मानने पर बल देती है। पाश्चात्य मत के अनुसार दुःखान्त नाटक करुण रस प्रधान नाटक का नाम है और करुण रस का आस्वाद आनन्दमय होता है। इसी कारण दुःखान्त नाटक को श्रेष्ठ माना गया है।

अभिनय से नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे यहाँ अभिनय के प्रकार बतलाने के साथ साथ रंगमंच के निर्माण के विषय में भी विस्तृत निर्देश दिये गये हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस सब का

विस्तृत विवेचन है। नाटक का अभिनय योग्य होना उसका गुण होता है परन्तु अभिनययोग्यता ही उसके नाटकत्व की एक मात्र कसौटी नहीं। नाटक पाठ्य भी हो सकता है, ऐसे नाटक 'कक्षानाटक' (क्लोज़ेट ड्रामा) कहलाते हैं तथापि नाटक के लिये अभिनेय होना उसकी मूलभावना की रक्षा करता है।

सिनेमा ने नाटक को बहुत प्रभावित किया है। नाटक के असंभव दृश्यों को संभव बना कर सिनेमा ने उसकी सीमाओं का विस्तार कर दिया है। अब तो नाटक रेडियो पर भी प्रस्तुत किया जाता है और रेडियो नाटक का अपना स्वतंत्र ही शिल्पविधान होता है। नाटक का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया है कि उसके अध्ययन के लिये नये सिद्धान्तों की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति समय के द्वारा ही हो सकती है।

समालोचना

समालोचना का अर्थ है 'किसी साहित्यिक वस्तु का सम्यक् रीति से सांगोपांग निरीक्षण करना।' आलोचना का साहित्य-जगत् में बहुत महत्त्व है। कवि और आलोचक को समान स्थान का अधिकारी समझा गया है—'कविः करोति काव्यानि, रसं जानाति पण्डितः।' आलोचक वास्तव में कवि और पाठक के बीच मध्यस्थ का काम करता है, वह दोनों का पथ-प्रदर्शक होता है। स्वयं साहित्य के लिये भी आलोचना आवश्यक है। साहित्य के गुणावगुण के ज्ञान के लिए आलोचना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार आँधी के बिना साधारण दीप और मणिदीप का अंतर ज्ञात नहीं होता, उसी प्रकार आलोचना के बिना श्रेष्ठ तथा सामान्य साहित्य के भेद का ज्ञान नहीं होता। आलोचना के इस महत्त्व को समझते हुये प्रसिद्ध संस्कृत-साहित्यशास्त्री राजशेखर ने आलोचना को वेद का 'सप्तम् अंग' बताया है।

भारतीय साहित्य में आलोचना के सिद्धांतों पर बहुत गंभीर और व्यापक विचार हुआ है। साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी के अनेक सिद्धांत समय समय पर विकसित होते रहे। ये सिद्धांत संख्या में छः हैं—रस सिद्धांत, ध्वनि सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, वक्रोक्ति सिद्धांत, रीति सिद्धांत और औचित्य सिद्धांत। परन्तु इनके आधार पर व्यावहारिक आलोचना न हो सकी, किसी कवि के काव्य की पूर्ण परीक्षा कर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना न की गई। इस दृष्टि से पाश्चात्य आलोचना बहुत समृद्ध है। अतः आधुनिक आलोचना भारतीय सिद्धांतों की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धांतों से अधिक प्रभावित है।

समालोचना के तीन व्यापार होते हैं—प्रभाव-ग्रहण, प्रभाव-विश्लेषण, मूल्यांकन। आलोचक ग्रंथ को पढ़ कर उससे प्रभावित होता है फिर उस प्रभाव का विश्लेषण करता है अर्थात्—वह प्रभाव कैसा है, ग्रंथ कैसा है और अंत में वह उसका मूल्यांकन करते हुए अपनी सम्मति देता है।

समालोचना की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं जिनका सही वर्गीकरण बहुत कठिन है। सामान्य रूप से उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जाता है—
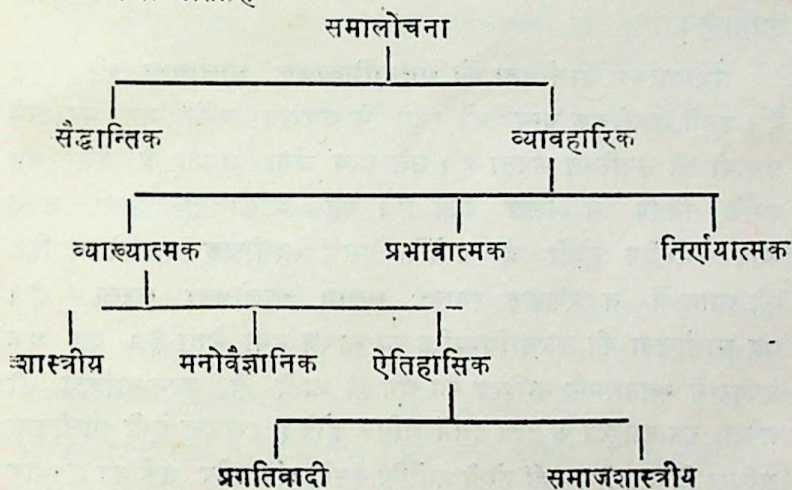
समालोचना के मूल रूप से दो प्रकार हैं—सैद्धांतिक, व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचना में आलोचना के सिद्धान्तों—जिनके आधार पर आलोचना की जाती है—का वर्णन होता है। रस, ध्वनि, अलंकार आदि के सिद्धान्त इसी के अंतर्गत आते हैं। यह सम्पूर्ण समालोचना का मूलाधार है। इसी पर व्यावहारिक समालोचना—जिसके अनेक भेद-प्रभेद हैं—का भवन खड़ा होता है। व्यावहारिक आलोचना में आलोचना के सिद्धान्तों के आधार पर किसी साहित्यिक कृति का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। इसके तीन मुख्य भेद होते हैं—व्याख्यात्मक आलोचना, प्रभावात्मक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना।

व्याख्यात्मक आलोचना में साहित्यिक कृति के बाह्य पक्ष और अन्तः पक्ष दोनों का विवेचन होता है। आलोचक ग्रन्थ के रूपाकार की तथा भावपक्ष की विशेषताओं को प्रकट करता है। वह पहले से निश्चित सिद्धान्तों को लेकर आलोचना नहीं करता अपितु ग्रन्थ की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए सामान्य सिद्धान्तों को निर्धारित करता है।

प्रभावात्मक आलोचना को आत्माभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं। इसमें आलोचक ग्रन्थ को पढ़ने के उपरांत अपने मन पर पड़े प्रभावों को उपस्थित करता है। उसे ग्रन्थ जैसा लगता है वैसा वह उसके विषय में लिख देता है। यह आलोचना प्रायः सरस और रमणीय होती है क्योंकि इसमें आलोचक पाठकों के हित को ध्यान में न रखकर स्वान्तः सुखाय आलोचना करता है। वह आलोचना को आत्माभिव्यक्ति का साधन बना लेता है। यह एक प्रकार से रचनात्मक साहित्य का अंग हो जाती है, ज्ञान-साहित्य की अपेक्षा रस-साहित्य के तत्त्व इसमें अधिक होते हैं। परन्तु ऐसी आलोचना अधिक विश्वसनीय नहीं होती क्योंकि इसमें बुद्धि और तर्क का उपयोग

नहीं होता। आलोचक यदि पूर्वाग्रह से दूषित हो तो यह आलोचना एक प्रकार से प्रलाप बन जाती है। ऐसी आलोचना से ग्रन्थ के विषय में सन्तुलित सम्मति नहीं बन पाती तथा इस प्रकार आलोचना की मूल भावना पर आघात पहुँचता है।

निर्णयात्मक आलोचना में ग्रन्थ का कोटि-निर्धारण होता है। वह उत्तम, मध्यम, अधम की कोटि में स्थान पाता है। उसके स्थायित्व और अस्थायित्व का, सद्भाव और असद्भाव का निश्चय होता है। यह स्थिति एक प्रकार से स्वाभाविक ही है। किसी ग्रंथ को पढ़कर हम उसकी ओर अधमता, उत्तमता, मध्यमता के विषय में कोई निर्णयात्मक सम्मति तो देते ही हैं। परन्तु इसकी सीमा का बहुत ध्यान रखना चाहिए। व्यक्तिगत, रुचि को सीमा से अधिक महत्त्व देकर यदि हम कवियों का प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि इस प्रकार से स्थान निश्चित करने लगेंगे तो वह उपहासास्पद बन जायेगी। मिश्र बन्धुओं की आलोचना में यह दोष मिलता है। आलोचक को ऐसी आलोचना करते हुये अपना सन्तुलन कभी न खोना चाहिए।

इन तीन प्रकारों में व्याख्यात्मक आलोचना ही सर्वश्रेष्ठ ठहरती है। वह ही किसी कृति के गुण-दोष का सन्तुलित व्याख्यान करती है। उसी में आलोचना की मूल भावना अधिकतम रूप में सुरक्षित रह पाती है।

व्याख्यात्मक आलोचना के तीन भेद होते हैं—शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक।

शास्त्रीय आलोचना में निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किसी ग्रन्थ की परीक्षा की जाती है। यह एक प्रकार से अन्वेषणपरक आलोचना होती है। आलोचक ग्रन्थ में यही ढूँढता है कि इसमें कौन से अलंकारों का प्रयोग हुआ है, रस कौन-सा है, भाषा कैसी है इत्यादि; वह ग्रंथ की उन विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं देता जिससे वह ग्रन्थ

ग्रन्थों से विशिष्ट हो सके। इस प्रकार यह आलोचना ऊपरी ही रह जाती है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना में ग्रन्थ के आधार पर लेखक की उन मानसिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है जिनसे प्रभावित होकर उसने उस ग्रन्थ की रचना की और उस विश्लेषण के प्रकाश में ग्रन्थ के भाव पक्ष की परीक्षा की जाती है।

ऐतिहासिक आलोचना में ग्रन्थ के आधार पर लेखक के समकालीन युग की उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण रहता है जिनके वशीभूत होकर उसने उस ग्रन्थ की रचना की और उस विश्लेषण के आधार पर ग्रन्थ की सामाजिक चेतना का उद्‌घाटन किया जाता है। प्रगतिवादी और समाजशास्त्रीय पद्धत्तियाँ भी इसी का अंग होती हैं।

श्रेष्ठ आलोचना वही होती है जिसमें शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक आलोचना का समन्वय किया गया हो। शास्त्रीय आलोचना से ग्रंथ की बाह्य विशेषताओं की, मनोवैज्ञानिक आलोचना से ग्रन्थकार की मानसिक परिस्थिति के आधार पर ग्रन्थ की भाव चेतना की तथा ऐतिहासिक आलोचना से ग्रन्थकार के युग की परिस्थितियों के आधार पर ग्रन्थ की सामाजिक चेतना की व्याख्या की जाती है। आलोचना में ग्रन्थ, ग्रन्थकार की चेतना, और ग्रन्थकार का युग—तीनों का ध्यान रखना चाहिये क्योंकि ग्रंथ के पीछे उसका लेखक तथा लेखक के पीछे उसके युग की सामाजिक परिस्थितियाँ रहती हैं। जिस आलोचना में उक्त तीनों प्रणालियों का समन्वयपूर्वक प्रयोग किया जाता है, वह आलोचना श्रेष्ठ और सर्वांगपूर्ण बन पाती है।

कहानी

लोकप्रियता की दृष्टि से समस्त गद्य-रूपों में कहानी सबसे आगे है। मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों में कहानी को निश्चित रूप से स्थान मिलता है। केवल कहानियाँ प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएँ भी

बहुत लोकप्रिय होती हैं । कहानी के महत्त्व का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

कहते हैं कहानी की कहानी बहुत पुरानी है । कहानी कहने की प्रवृत्ति मानव में आदिकाल से चली आ रही है । इस प्रकार मौखिक रूप में कहानी का अस्तित्व उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव जाति । परन्तु लिखित रूप में उसका विकास सब से पहिले भारतीय साहित्य में हुआ । बौद्धों के जातक साहित्य को विश्व के कथा-साहित्य का आदिस्रोत माना जाता है । परन्तु आधुनिक कहानी और प्राचीन कहानी में अन्तर है । आधुनिक कहानी का विकास युग की आवश्यकताओं के अनुसार हुआ है । प्राचीन कहानी में मानवभिन्न सृष्टि को पर्याप्त स्थान मिलता था । अतिमानवता तथा अलौकिकता का भी उसमें समावेश होता था परन्तु आधुनिक कहानी मानव केन्द्रित है और मानव के संसार से सम्बन्धित है । प्राचीन कहानी में भाग्यवादिता और रसात्मकता होती थी और आधुनिक कहानी में कर्मशीलता और चरित्र चित्रण एवं विश्लेषण आदि की प्रधानता होती है। इस प्रकार आधुनिक कहानी स्वरूप की दृष्टि से प्राचीन कहानी से भिन्न ही हो गई हैं ।

कहानी की परिभाषा पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । सब ने अपने अपने विचारों के अनुसार कहानी की परिभाषा दी है परन्तु सभी ने उसकी संक्षिप्तता की ओर संकेत अवश्य किया है । एडगर एलन पो के अनुसार,"छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव को उत्पन्न करने के उद्देश्य से लिखा गया है । उसमें ऐसी सब बातों को छोड़ दिया जाता है जो उसके प्रभाव की एकता में बाधक होती हैं । वह स्वतः पूर्ण होती है ।" ह्यू वालपोल के शब्दों में, "कहानी कहानी होनी चाहिये । उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा जोखा होना चाहिये । वह घटना और आकस्मिकता से पूर्ण हो, उसमें क्षिप्रगति के

साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरम बिन्दु और संतोष-जनक अन्त तक ले जाय"। श्यामसुन्दर दास का कहना है,"आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है" (साहित्यालोचन, पृष्ठ १८७)। गुलाबरायजी का मत इस प्रकार है, 'छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्तिकेन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो" (काव्य के रूप, पृष्ठ २०३) गुलाबराय की परिभाषा यद्यपि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती तथापि उसमें कहानी की उल्लेखनीय विशेषताएँ आ गई हैं।

कहानी और उपन्यास को लेकर एक भ्रान्ति प्रचलित है कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त रूप है। यह मत अशुद्ध है। यद्यपि दोनों कथा साहित्य के अंग हैं तथापि मौलिक रूप में दोनों में भिन्नता है। स्थूल भेद तो आकार का है। मूल भेद यह है कि कहानी में जीवन के एक क्षण, एक रूप, एक स्थिति तथा एक प्रसंग का चित्र होता है, उपन्यास में जीवन अथवा जीवन के किसी रूप विशेष का पूर्ण चित्र होता है। उपन्यास में जीवन का पूर्ण चित्र होता है, कहानी में जीवन की एक झलक। जो भेद पूर्ण चित्र और उसकी झलक में होता है वही उपन्यास और कहानी में समझना चाहिये। दोनों की आत्मा का यह भेद उनकी शैली में भी भेद निर्धारित करता है। कहानी में एकाग्रता की प्रवृत्ति होती है और उपन्यास में विस्तार की। कहानी एक ही प्रभाव को उत्पन्न करती है, उसमें एक ही बात कही जाती है, उपन्यास में अनेक बातें कह दी जाती हैं। वस्तुतः कहानी एक स्वतः सम्पूर्ण कलाकृति है, उपन्यास का अंश या संक्षेप नहीं।

उपन्यास के समान कहानी के भी पाँच तत्त्व होते हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, देशकाल, उद्देश्य और शैली। कथावस्तु ऐतिहासिक,

पौराणिक, सामाजिक, रोमाण्टिक, आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। उसके विकास के साधारण रूप से चार स्तर होते हैं प्रस्तावना, मुख्यांश, चरमविन्दु, परिणाम। कई कहानियाँ चरमबिन्दु पर पहुँचकर ही समाप्त हो जाती हैं, उनका परिणाम नहीं दिखाया जाता। कहानी की कथावस्तु अत्यन्त सुगठित होनी चाहिये। अनावश्यक विस्तार का न्यूनतम अवकाश भी उसमें नहीं होता।

चरित्रचित्रण का कहानी में बहुत महत्त्व होता है। पात्र के चरित्र की एक विशेषता का उद्‌घाटन होने के कारण उसमें चरित्रचित्रण पर बहुत बल देना पड़ता है। कहानी के चरित्रों की विशेषताएँ और चरित्रांकन प्रणाली वैसी ही होती हैं जैसी उपन्यास की। चरित्रचित्रण करते समय लेखक को मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण करते हुए अत्यन्त संयत लेखनी का प्रयोग करना चाहिए।

देशकाल का अवकाश कहानी में कम ही रहता है। देशकाल प्रधान कहानियों की बात तो दूसरी है परन्तु अन्य कहानियों में इस तत्व को नगण्य स्थान ही प्राप्त है।

उद्देश्य की दृष्टि से कहानियों को मनोरंजन की सीमा तक रखना ठीक नहीं। वे मनोरंजन तो करती ही हैं, जीवन के सत्य का भी उद्‌घाटन करती हैं। इसके अतिरिक्त चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, समाज के शोषक वर्ग पर कठोर व्यंग्य, ऐतिहासिक गौरव की झाँकी दिखाना आदि अनेक उद्देश्यों को लेकर कहानी लिखी जा सकती है।

शैली में भाषा और कथोपकथन का समावेश होता है। आकार में लघु होने के कारण चित्रात्मकता और व्यंजकता आदि कहानी की भाषा के आवश्यक गुण हैं। कथोपकथन में मार्मिकता और संक्षिप्तता होनी चाहिये।

कहानी के आरम्भ और अन्त पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वास्तव में आकर्षक आरंम्भ और मार्मिक अन्त ही में कहानी का सौन्दर्य

निहित होता है। कहानी तो एक घुड़दौड़ के समान है जिसमें आरम्भ और अन्त का विशेष महत्व होता है। आरम्भ की कई प्रणालियां हैं, जैसे वातावरण चित्रण, वस्तुवर्णन, वार्तालाप आदि। यही बात अन्त के विषय में समझनी चाहिये।

विषय की दृष्टि से कहानियाँ सामान्यतः चार प्रकार की होती हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, वर्णन प्रधान, भावप्रधान। घटना प्रधान कहानियों में मुख्यतः जासूसी कहानियाँ आती हैं जिन में घटनाओं को मुख्य स्थान मिलता है। इन में कौतूहल और औत्सुक्य की भावना होती है। 'आगे क्या' की प्रवृत्ति इनकी विशेषता है। चरित्र प्रधान कहानियों में चरित्र की विशेषताओं का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया जाता है। वर्णन प्रधान कहानियों में वातावरण का चित्रण प्रधान होता है। प्रकृति का सुन्दर वर्णन इनमें मिलता है। भाव प्रधान कहानियों में भाव को केन्द्र बनाकर कहानियाँ लिखी जाती हैं। इनमें दार्शनिकता पाई जाती है।

कहानी कहने की चार शैलियाँ प्रचलित हैं—ऐतिहासिक या वर्णनात्मक प्रणाली, आत्मकथात्मक प्रणाली, कथोपकथनात्मक प्रणाली और पत्रात्मक प्रणाली। इनके अतिरिक्त भी स्वप्न प्रणाली, अन्योक्ति प्रणाली आदि अनेक शैलियों में कहानियाँ लिखी जाती हैं।

आधुनिक युग में कहानी बहुत वेग से विकास कर रही है। नये नये विषयों पर नई नई शैलियों में कहानियाँ लिखी जा रही हैं। वे अधिकाधिक सूक्ष्म और सांकेतिक होती जा रही हैं। कहानी के विषय और शैली के क्षेत्र में इतनी विविधता है कि वर्गीकरण के द्वारा एक स्थिर दृष्टि का निर्माण करना बहुत कठिन ही समझना चाहिये।

एकांकी

सामान्यतः एकांकी का अन्तर्भाव नाटक में हो जाता है क्योंकि वह भी नाटक का एक रूप है परन्तु उसकी अपनी पृथक् सत्ता है।

उसे नाटक का संक्षिप्त रूप समझना भूल होगी। जो भेद उपन्यास में और कहानी में होता है, वैसा ही भेद नाटक तथा एकांकी में समझना चाहिये।

कुछ विद्वान एकांकी को भारतीय साहित्य रूप मानते हैं। यह ठीक है कि हमारे यहाँ के भाण, व्यायोग, अंक, वीथी आदि में भी एक अंक होता था पर इतने से ही वे 'एकांकी' नहीं हो जाते। वास्तव में 'एकांकी' तो एक पारिभाषिक शब्द है जो पश्चिम की देन है। उसका स्वतंत्र साहित्यिक अस्तित्व है। उसकी तुलना अंग्रेज़ी के 'कर्टेन रेज़र' और 'आफ्टर पीसेज' से भी नहीं की जा सकती क्योंकि इनका उपयोग मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने के पहले या बाद में दर्शकों का समय काटने के लिए होता था। एकांकी का उपयोग समय काटने में नहीं होता अपितु वह आनन्दानुभूति कराता है।

एकांकी में एक ही प्रधान घटना को स्थान मिलता है और वह एक ही प्रभाव को उत्पन्न करता है। एकांकी के वस्तु संगठन में बहुत चातुर्य की आवश्यकता होती है। उसमें अतिरिक्त कथानक तथा चारित्रिक विकास की गुंजायश नहीं होती। एकांकी में एकाग्रता की प्रवृत्ति होती है। एकांकी ऐसा होना चाहिये कि वह पाठक का ध्यान बराबर खींचे रहे।

डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं, "एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका संबन्ध नाटक की घटना से संपूर्णतया संबद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिये अनावश्यक पात्र की गुंजायश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप रेखा पत्थर पर खिची हुई रेखा

की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के हाथ पैरों के समान है जिसमें अनुपात विशेष से रचना हो कर सौंदर्य की सृष्टि होती है।

कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार एकांकी नाटक की रचना साधारण नाटक की रचना से कठिन है। उसमें विस्तार के लिये अवकाश ही नहीं। अतएव स्वाभाविकता के साथ नाटकीय कथावस्तु का प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा और अन्त बिना किसी शैथिल्य के हो जाना चाहिये। जिस प्रकार कहानी उपन्यास से भिन्न है, उसी प्रकार एकांकी नाटक साधारण नाटक से'' (पृथ्वीराज की आँखें, पूर्वरंग, पृष्ठ ११-१२)।

एकांकी-कला के दो आवश्यक तत्त्व होते हैं—नाटकीय संघर्ष, चरित्र चित्रण।

संघर्ष ही नाटक की आत्मा है। इस के दो रूप होते हैं—बाह्य संघर्ष, अन्तः संघर्ष। बाह्य संघर्ष दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच या व्यक्ति और समाज के बीच या व्यक्ति और 'नियति' के बीच हो सकता है। अन्तः संघर्ष पात्र के मन में दो विरोधी भावों में होता है जैसे कर्तव्य और प्रेम या नीति और राजनीति आदि। एकांकी में दोनों प्रकार के संघर्षों की कलात्मक, मार्मिक और प्रभावशाली अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

चरित्रचित्रण का नाटक में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। नाटक के पात्र एक दूसरे से भिन्न चरित्र वाले होने चाहियें। सबका अपना व्यक्तित्व होना चाहिये। वे वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले होने चाहियें। उनके चरित्र में संगति का होना आवश्यक

है। वे अन्तर्विरोध से मुक्त हों। उनके चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन न दिखाया जाये। ऐसा परिवर्तन, यदि दिखाया जाये तो, परिस्थितियों के अनुरोध से ही होना चाहिये और नाटककार को उन परिस्थितियों का चित्रण अवश्य करना चाहिये। नाटक के पात्रों का चरित्र मानवीय होना चाहिये। उनमें मानव-सुलभ वृत्तियों को प्रस्फुटित करना चाहिये जिससे दर्शक उनके साथ अपनापन अनुभव कर सके।

एकांकी के संवाद संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाक्चातुर्यपूर्ण, चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाले तथा एकांकी के कथासूत्र को अग्रसर करने वाले होने चाहियें। उनमें स्वाभाविकता होनी चाहिये। "स्वाभाविकता की व्याख्या करते हुए एक अंग्रेज़ विचारक ने कहा है कि एकांकी का कथोपकथन क से ग से च से ज से ख से ग से ह से च से ट से य से प आदि—इस प्रकार पीछे मुड़कर पलटता हुआ, छलाँग मार कर आगे बढ़ता हुआ, मुख्य विचारों को दुहराता हुआ और उन पर ठहर कर उनकी व्याख्या करता हुआ, और कभी कभी ऐसे विचारों को भी संवाद में घसीट लेता हुआ हो, जो यद्यपि कथावस्तु के लिये प्रत्यक्षतः संगत नहीं हैं, लेकिन जो वातावरण, चरित्र और यथार्थ जीवन की सृष्टि में योग देते हैं" (शिवदान सिंह चौहान, साहित्यानुशीलन, पृष्ठ ४४)।

एकांकी में चरम सीमा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। चरम सीमा पर समाप्त हो जाने वाले एकांकी नाटकों का प्रभाव अधिक नुकीला और स्थायी होता है।

आधुनिक युग में एकांकी बहुत लोकप्रिय हो रहा है। अभिनय के क्षेत्र में प्रायः एकांकी को ही प्राथमिकता मिलती है। आज के गतिशील जीवन में पाठक साधारण नाटक की अपेक्षा एकांकी को अपने बहुत अनुकूल पाता है। एकांकी की लोकप्रियता उसके महत्त्व का पर्याप्त प्रमाण है।

रेखाचित्र

चित्रकला में तो चित्रों का निर्माण होता ही है, काव्यकला में भी चित्र बनाये जाते हैं जो रेखाचित्र कहलाते हैं। चित्रकलाकार के साधन हैं तूलिका और रंग तथा रेखाचित्रकार के साधन हैं लेखनी और शब्द। दोनों की समानता का उल्लेख करते हुए शिवदानसिंह चौहान लिखते हैं, "साहित्य में रेखाचित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने पारिपार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अंग को—पशु-पक्षी, वृक्ष इमारत, खण्डहर, स्त्री-पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु को—एक चित्रकार के समान अंकित करता है, वास्तविकता के उस अंग को कल्पनासात् कर उसके मर्म को संक्षेपण और पुनर्संगठन के द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतल से उभार करके अपनी भाव प्रक्रिया से उसके प्रभावों को अतिरंजित कर देता है" (साहित्यानुशीलन, पृष्ठ ४८)। रेखाचित्र साहित्य में चित्रकला का समकक्ष होता है।

आधुनिक जीवन की गतिशील वास्तविकता ने रेखाचित्र को जन्म दिया है। कम से कम शब्दों में और कम से कम समय में अपनी अनुभूतियों को प्रकट करने के लिये कलाकार रेखाचित्र का आश्रय लेता है। रेखाचित्र कहानी और निबंध (विशेषतः संस्मरणात्मक निबन्ध) के बीच की वस्तु है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है चित्रात्मकता। रेखाचित्र को पढ़कर पाठक के ज्ञानचक्षुओं के सामने वर्ण्य वस्तु का एक स्पष्ट चित्र खिंच जाता है। उसका वर्ण्य-विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है, वास्तविक भी। उसकी शैली अत्यन्त सजीव होती है। उसमें अनुभूति और अनुभव का चित्रण ही मुख्य होता है। अनुभूति और अनुभव को तीव्र और प्रखर बनाने के लिये रेखाचित्र का उपयोग होता है। उसकी सौंदर्यानुभूति में सामयिकता की अपेक्षा स्थायित्व अधिक होता है। वस्तुतः रेखाचित्र की कला साधना का पथ है।

रिपोर्ताज़

रिपोर्ताज़ एक अत्यन्त आधुनिक साहित्य रूप है। सोवियत यूनियन से रिपोर्ताज़ का प्रारंभ हुआ और अमेरिकन लेखकों ने इसको सबसे अधिक अपनाया। महायुद्ध के दिनों में इस कला का विकास हुआ। रिपोर्ट का साहित्यिक रूप ही रिपोर्ताज़ कहलाता है। रिपोर्ट पत्रकारिता का विषय है जिसमें तथ्यात्मक वर्णन होता है। वही साहित्यिक उपादानों—कल्पना, अनुभूति आदि—से संवलित होकर रिपोर्ताज़ कहलाता है। क्रान्तियों और युद्धों का मार्मिक शैली में हृदयद्रावक साहित्यिक वर्णन रिपोर्ताज़ में होता है। उसके द्वारा वर्तमान जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता का अनुभव पाठकों तक बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से पहुँचाया जा सकता है। उसमें कहानी, उपन्यास, निबन्ध सभी के गुण रहते हैं। वह अपने संक्षिप्त साहित्यिक रूप में क्रान्तिकारी घटनाचक्र का चित्रण पाठकों के सम्मुख रखता है।

रिपोर्ताज़ लिखने के लिये तीन बातें आवश्यक हैं—वर्ण्य-घटना के वास्तविक इतिहास का ज्ञान, घटना की रूपरेखा का स्पष्टीकरण तथा घटना से सम्बद्ध पात्रों की मानसिक गतिविधि का विश्लेषण। इन तीन तत्त्वों से सज्जित होकर लेखक पूरी संवेदनशीलता के साथ परन्तु मानसिक संतुलन को बनाये रखकर रिपोर्ताज़ की रचना करता है। वह संक्षिप्त शब्दावली में विभिन्न घटनाओं का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है।

रिपोर्ताज़ लिखने में साहित्यिक रुचि वाले पत्रकार को बहुत सफलता मिलती है। रिपोर्ताज़ साहित्यिक होते हुए भी मूल रूप में पत्रकारिता का ही विषय होता है। हाँ, उसका क्षेत्र सीमित होता है। युद्ध और यातना के क्षेत्र से वह अपने विषय का चुनाव करता है। इसलिये अन्य साहित्य रूपों के समान उसकी नियमित रूप से रचना नहीं होती। युद्ध जैसी भयंकर वस्तु से यह साहित्य रूप जन्म लेता है, यह आनन्दमूलक साहित्य के लिये विडम्बना ही है।

हिन्दी के प्रमुख गद्यकारों की गद्य शैलियाँ

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१८५०-१८८५)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। वे मुख्य रूप से नाटककार, निबन्धकार और पत्रकार थे। उन्होंने निबन्ध रचना के लिए अनेक विषय चुने जैसे ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, यात्रा-सम्बन्धी, प्रकृति-सम्बन्धी, व्यंग्य तथा हास्य प्रधान आदि। अतः उनकी गद्यशैली (गद्यशैली के विवेचन के लिये निबन्धों को ही लिया जाता है क्योंकि निबन्ध गद्य का सच्चा प्रतिनिधि माना जाता है) के अनेक रूप प्राप्त होते हैं।

वर्णनात्मक शैली का प्रयोग उनके यात्रा सम्बन्धी तथा ऐतिहासिक निबन्धों में मिलता है। संस्कृत के सरल शब्दों के प्रयोग के साथ अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को ऐसी शैली में ग्रहण किया गया है। छोटे वाक्यों के साथ मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी किया गया है। इस प्रकार यह शैली सरस, सुबोध और प्रसाद गुण युक्त बन पड़ी है।

भावात्मक शैली का प्रयोग वहाँ मिलता है जहाँ भारतेन्दु अपनी हार्दिक भावनाओं को व्यक्त करते हैं। इसमें वाक्य छोटे और शब्द सरल हैं। उदाहरण लीजिये—

"पर मेरे प्रियतम घर न आए, क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्दे में पड़ गये कि इधर की सुध

ही भूल गये। कहाँ तो वे प्यार की बातें, कहाँ एक साथ भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना ? मैं कहाँ जाऊँ कैसे करूँ ?"

विचारात्मक शैली में उन्होंने साहित्यिक और सांस्कृतिक निबन्धों की रचना की है। उनमें तथ्यात्मक अन्वेषण, गंभीरता और विचारोत्तेजकता मिलती है। भाषा संस्कृत प्रधान है, वाक्य छोटे भी हैं, बड़े भी और पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। उदाहरण लीजिये—

"प्रथमतः कर्ममार्ग में फँस कर लोग अनेक देवी देवों को पूजते हैं किन्तु बुद्धि का यह प्रकृत धर्म है कि यह ज्यों ज्यों समुज्ज्वल होती है अपने विषयमात्र को समुज्ज्वल करती जाती हैं। थोड़ी बुद्धि बढ़ने ही से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी देव इस अनन्त सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते। इसका कर्ता स्वतंत्र कोई विशेष शक्तिमान् कोई ईश्वर है।"

व्यंग्यात्मक शैली के तो भारतेन्दु जन्मदाता हैं। सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डों की खिल्ली उड़ाने के लिये तथा विदेशी सभ्यता, संस्कृति एवं शासन की आलोचना के लिये उन्होंने इस शैली का व्यवहार किया है। इसमें हास्य-विनोद के साथ कठोर व्यंग्य मिलता है। भाषा बहुत तीखी और प्रभावोत्पादक है तथा वाक्य छोटे हैं। उदाहरण लीजिये—

"कंकड़ देव को प्रणाम है। देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कंकड़ शिवशंकर के समान हैं। हे लीलाकारिन् ! आप काशी, शकट, वृषभ खरादि आदि के नाशक हौ। इससे मानो पूर्वार्ध की कथा हौ अतएव व्यासों की जीविका हौ। आप वानप्रस्थ हौ क्योंकि जंगलों में लुढ़कत्ते हौ, ब्रह्मचारी हौ क्योंकि बटु हौ। गृहस्थ हौ चूनार रूप से, संन्यासी हौ क्योंकि घुट्टम घुट्ट हौ !

आप अंग्रेज़ी राज्य में भी गणेश चतुर्दशी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिर धारा से नियम और शान्ति का अस्तित्त्व बहा देते हो। अतएव हे अँग्रेज़ी राज्य में नवाबी स्थापक ! तुमको नमस्कार है।"

भारतेन्दु की भाषा के भी अनेक रूप हैं। अनेक प्रकार की भाषाएँ लिखने में उन्हें दक्षता प्राप्त थी। उनके कुछ निबन्धों में भाषा अत्यधिक तत्सम प्रधान है जिसमें उन्होंने भाषाधिकार का प्रदर्शन किया है, वह भाषा कृत्रिम हो गई हैं। जैसे, "तब आपत्तिकाल अवलोकन कर प्रमरवंशोद्भवा ग्रहादित्य की राज्ञी ने अपने पुत्र वाष्प को शिशुता के भय से निज पुरोहित वशिष्ट के गृह में गोपन कर पिहित करना स्वीकार किया।" कुछ निबन्धों में उनकी भाषा बहुत प्रांजल है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द तो हैं परन्तु बोझिलता और कृत्रिमता नहीं। उसमें भारतेन्दु का ध्यान विषयवस्तु के प्रतिपादन और स्पष्टीकरण की ओर है। ऐसी भाषा में गम्भीरता, सुबोधता, शक्तिसम्पन्नता और सरलता मिलती है। जैसे, "सम्यक् प्रकार से जो गाया जाय उसे संगीत कहते हैं, धातु और मातु संयुक्त सब संगीत होते हैं। नादात्मक धातु और अक्षरात्मक मातु कहलाते हैं। वह गीत यंत्र और गात्र विभाग से दो तरह के हैं। वीना बेनु इत्यादि से जो गाया जाय, वह यंत्र और कंठ से जो गाया जाय, वह गात्र गीत है।" भारतेन्दु की भाषा कहीं-कहीं अलंकृत रूप में भी मिलती है। अलंकरण के लिये उन्होंने कहीं तो संस्कृत की तत्सम पदावली का आश्रय लिया है और कहीं उर्दू, फारसी का। कुछ निबन्धों में प्रवाहशाली भाषा के दर्शन होते हैं जिसमें वाक्य छोटे होते हैं तथा शब्दचयन में उदारता की प्रवृत्ति है। जैसे, "सिलैक्ट कमेटी का कई अधिवेशन हुआ। सब कागज पत्र देखे गये। दयानन्दी और केशवी ग्रन्थ तथा उनके प्रत्युत्तर और बहुत से समाचार-पत्रों का मुला-

हिज्ञा हुआ । बालशास्त्री प्रभृति कई कंसर्वेटिव और द्वारकानाथ प्रभृति लिबरल नव्य आत्मागणों की इनमें साक्षी ली गई। अन्त में कमेटी या कमीशन ने जो रिपोर्ट किया उसकी मर्म बात यह थी।" कहीं-कहीं तो भारतेन्दु ने एकदम उर्दू ही लिख दी है, बस लिपि नागरी है।

वास्तव में भारतेन्दु आचार्य कोटि के गद्यकार थे। भाषा और शैली के अनेक रूपों पर उनका पूर्ण अधिकार था। यद्यपि उनके गद्य में व्याकरणिक अशुद्धियाँ, विराम चिह्नों का स्खलन, पंडिताऊ शब्दावली आदि त्रुटियाँ मिलती हैं तथापि उनके समय को देखते हुए उन्होंने भाषा का जो शुद्ध, सरल, सजीव, मुहावरेदार रूप स्थिर किया उससे उनके गद्यकार का महत्त्व प्रकट होता है। शुक्ल जी के शब्दों में, "भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४१२)। यह कहना सर्वथा उचित है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं।

प्रताप नारायण मिश्र

(१८५६—१८९४)

प्रतापनारायण मिश्र बहुमुखी प्रतिभा के गद्यकार थे। वे एक साथ ही निबंधकार, उपन्यासकार, पत्रकार और अनुवादक थे। वें वास्तव में जनकलाकार थे। जन साहित्य को जन-भाषा में प्रस्तुत करने वालों में मिश्र जी अग्रगण्य थे। उनके साहित्य पर उनके व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव है। उनमें देशहित, समाज सेवा, साहित्य-निर्माण तथा हिन्दी प्रचार की बड़ी धुन थी। मिश्र जी एक लापरवाह, मनमौजी, आलसी और फक्कड़ व्यक्ति थे। वे विनोदशील प्रकृति के स्वच्छन्दताप्रिय साहित्यकार थे। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्त्व का प्रतिबिम्ब मिलता है। वस्तुतः निबन्धकार के रूप में उन्हें स्थायी साहित्यिक ख्याति प्राप्त हुई। छोटे-छोटे विषयों पर मनोरंजक, सर्वप्रिय और चित्ताकर्षक

निबन्ध लिखने में उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इसके साथ ही उन्होंने गम्भीर विषयों पर कुछ निवन्धों की रचना की। उनकी शैली के तीन रूप प्राप्त होते हैं—भावात्मक, विचारात्मक, व्यंग्यात्मक।

भावात्मक शैली की रचनाओं में विषय और अनुभूति की भावात्मकता इतनी नहीं जितनी भाषा, मनोरंजन और हास्यव्यंग्य की। इस शैली की रचनाओं में उन्होंने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति ऐसी व्यावहारिक भाषा द्वारा हास्य-विनोद के साथ की है कि पाठकों के लिये वह एकदम बोधगम्य है।

विचारात्मक शैली में उनकी साहित्यिक और विचार प्रधान रचनाएँ आती हैं। संयत और शिष्ट भाषा में उत्कृष्ट भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। इस शैली की रचनाओं में सुसम्बद्ध वाक्य, सुलझे विचार, भाषा की एकरूपता और स्वच्छता आदि गुण मिलते हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"शरीर के द्वारा जितने काम किये जाते हैं उनमें मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य भी हों किन्तु भली प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है।"

व्यंग्यात्मक शैली को उनकी प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है। इसमें हास्य-विनोद की प्रधानता है। 'बात', 'वृद्ध', 'दांत', 'भौं' आदि साधारण विषयों के साथ 'जानै न बूझै, कठौता लेके जूझै' आदि कहावतों को शीर्षक बनाकर उन्होंने हास्य-विनोदपूर्ण निबन्धों की रचना की है। उनका व्यंग्य स्वाभाविक और ठोस होता है। उदाहरण लीजिये—

"जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है नहीं तो ढिचर-ढिचर होने लगे, वरन् रह ही जाय, फिर इस शब्द का स्मरण व श्रवण करते ही आपकी नाक, भौं क्यों सिकुड़ जाती है ?"

भाषा के स्वरूप के विषय में मिश्र जी बहुत असावधान थे। भाषा को सजाने, संवारने की ओर उनकी प्रकृति नहीं थी। उनकी भाषा में ग्रामीणता और अस्थिरता मिलती है। 'टेव', 'संतमेंत', 'खौखियाना' आदि ग्रामीण शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार पण्डिताऊपन और पूर्वीपन भी उनकी भाषा में मिलता है। घरेलू शब्दों के प्रयोग के साथ शब्दशुद्धि की ओर भी उनका ध्यान नहीं था। 'मलेछ', 'रिषि', 'ग्रहस्त' आदि शब्दों का वह व्यवहार करते थे। व्याकरणिक अशुद्धियाँ भी स्थान-स्थान पर मिलती हैं। संस्कृत के शब्दों के साथ वे अंग्रेजी, और अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त करते थे। यह सब होते हुए भी मिश्र जी की भाषा और शैली रोचक, आत्मव्यंजक, मधुर और स्वाभाविक है। उसमें आत्मीयता है। मुहावरों के अतिप्रयोग की दृष्टि से वह बेजोड़ है। 'बात' शीर्षक निबन्ध में तो उन्होंने मुहावरों को झड़ी ही लगा दी है। वे अपने युग के अत्यन्त प्रिय लेखक हैं। उन्हें स्वतंत्र शैली का प्रवर्तक कहा जा सकता है। वे जनता के साहित्यकार थे।

बालमुकुन्द गुप्त

(१८३५—१९०७)

बालमुकुन्द गुप्त की गद्य साधना यद्यपि स्थायी प्रकृति की नहीं है परन्तु अपनी विशिष्ट गद्य-शैली के कारण वे एक सफल और उल्लेखनीय गद्यकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'भारतमित्र' का सम्पादन करते

हुए उन्होंने अनेक निबन्धों की रचना की। इस प्रकार वे पत्रकार और निबन्धकार के रूप में हिन्दी गद्य मंच पर आते हैं। उन्होंने प्रौढ़ और आकर्षक निबन्धों की रचना की है। अपने समय की राजनीतिक परिस्थिति को लेकर उन्होंने कई निबन्धों की रचना की। राजनीति और साहित्य ये दो ही उनके मुख्य विषय थे जिनमें मूलस्वर राष्ट्रीयता का था। भाषा के विषय में उनका अपना स्वतंत्र मत था। इसी विषय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से भी उनका मत-भेद हो जाय करता था। 'अनस्थिरता' को लेकर चला हुआ दोनों का विवाद प्रसिद्ध ही है। गुप्त जी सुधारक वृत्ति के होने के कारण मूल रूप में आलोचक थे तथा साहित्यिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ करते थे। उनकी शैली के चार रूप मिलते हैं—भावात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक और व्यंग्यात्मक।

भावात्मक शैली का प्रयोग उनके हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों में ही है जहाँ लेखक की दशा पर भावुकतापूर्ण उद्‌गार व्यक्त करता है। उदाहरण लीलिए—

"हा, शिवशम्भु को इन पक्षियों की इतनी चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी, अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते।"

वर्णनात्मक शैली में उन्होंने अनेक निबन्धों की रचना की जिनके विषय सामान्य रहते थे। प्रायः सब प्रकार के निबन्धों में उनकी यह शैली थोड़ी बहुत छटा अवश्य दिखलाती है। छोटे वाक्य, भाषा में प्रवाह, रोचकता और मुहावरों का प्रयोग तथा शब्द चयन में उदारता आदि इस शैली की विशेषताएँ हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

" इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर छटा-बहार

में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अंधेरा छाया, बूंदे गिरने लगीं; साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगी—देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कह कर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई।"

विचारात्मक शैली में उनकी भाषा भी गम्भीर तथा साहित्यिक स्पर्श लिये हुए होती थी। साहित्यिक आलोचनाओं में उनकी इसी शैली के दर्शन होते हैं।

व्यंग्यात्मक शैली पर गुप्त जी का विशेष अधिकार था। सम्पादक पद से जितनी भी राजनीतिक आलोचनाएं वे लिखते थे, वे सब इसी शैली में होती थीं। ऐसी आलोचनाएं वे 'भंगेड़ी शिवशंभु शर्मा' के नाम से लिखते थे। विदेशी शासन पर प्रहार करने के लिये वे इसका प्रयोग करते थे। इसी शैली की रचनाओं का व्यंग्य तीक्ष्ण होते हुए भी मधुर, सरस तथा हास्य-विनोदपूर्ण होता था।

भाषा के विषय में गुप्त जी समन्वयवादी थे। वे उर्दू से हिन्दी में आये थे अतः उनकी हिन्दी पर उर्दू की शैली का प्रभाव होना स्वाभाविक है। वे दोनों को मूल रूप में भिन्न न मानते थे। इसलिये शब्दचयन में वे उदार थे, परन्तु उन्होंने हिन्दी की मर्यादा का सदैव ध्यान रखा। संस्कृत से ही प्राणरस लेने वाली हिन्दी को ही वे बहुल ग्राह्य न समझते थे तथापि भाषा संस्कार की ओर उनका ध्यान अवश्य था। वे व्याकरण के नियमों में भाषा को बाँधने के पक्ष में थे। उनकी सी मँजी हुई और टकसाली भाषा लिखने वाले लेखक उनके समय में कम ही थे। भाषा के प्रवाह पर उन्होंने बहुत ध्यान दिया। उर्दू अपनी प्रवाहशीलता के लिये प्रसिद्ध है। उर्दू के इस युग को हिन्दी में लाने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। यह उनके लिये बहुत श्रेय की बात है। उन्होंने जिस भाषा और शैली का व्यवहार किया उस पर उनकी

मौलिकता की छाप है। किसी का अनुकरण करने के पक्ष में वे कभी न रहे। वस्तुतः वे एक स्वतंत्र और व्यक्तित्वशाली हिन्दी गद्यकार थे।

बाल कृष्ण भट्ट

(१८५४-१९१४)

गद्यकार के रूप में भट्ट जी की बहुत ख्याति है। वे गद्यकार ही थे, कवि न थे। अतः उनकी समस्त प्रतिभा गद्य निर्माण में ही लगती थी। निबन्धकार, उपन्यासकार, समालोचक, नाटककार और पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। विद्वानों ने उन्हें अपने समय का सर्व-श्रेष्ठ निबन्धकार माना है। वे हिन्दी के मौनतेङ् और स्टील माने गये हैं। वे एक गंभीर लेखक, स्वाधीन विचारक और महान् समाज चिन्तक थे। उनकी शैली के चार रूप मिलते हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक और व्यंग्यात्मक।

वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक और सामाजिक विषयों प्रतिपादन किया है। उनके उपन्यासों तथा कौतूहल-वर्धक निबन्धों में इस शैली का प्रयोग हुआ है।

भावात्मक शैली उनकी अपनी शैली थी। इसमें काव्यात्मकता मिलती है। इस शैली की भाषा शुद्ध हिन्दी है, जिसमें अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग है और भावों एवं विचारों के साथ कल्पना का सुन्दर समन्वय है। उदाहरण लीजिये—

"गजगामिनी, जिसकी चाल के आगे हंसों का अपनी चाल का घमण्ड चला जाता है, जिस पिकबैनी की बचन माधुरी सुन कोकिला लज्जित हो मौन व्रत धारण कर लेती है, जिसके नवनीत-कोमल अंगों के साथ होड़ होने में कोमलता पत्थर सी कड़ी मालूम होती है, शोभा और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी जिसके लावण्य जलधि की लहरों में अचम्भे में आप गोता

खाने लगती है, 'एका नारी सुन्दरी वा दरी वा' भर्तृहरि की यह उक्ति ऐसी ही सहधर्मिणी के मिलने से सुघटित होती है।"

विचारात्मक शैली में उन्होंने गंभीर साहित्य की रचना की। उसमें बुद्धि और हृदय का योग है तथा 'चमकीले और रसभरे स्थलों के आवर्तन' के कारण विचारों में बोझिलता नहीं आ पाई है। इस शैली के साहित्य से उनकी ज्ञानराशि और तर्क शक्ति का परिचय मिलता है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"यह सम्पूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं, सब कल्पना ही कल्पना, नाशवान और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है। इन्हीं (गौतम, कपिल) के देखा-देखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्ध मत का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पनाजन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अन्तर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्माण ही को मुख्य माना।"

व्यंग्यात्मक शैली में उन्होंने संयत और शिष्ट व्यंग्य की रचना की। वह तीखा और मार्मिक है, हास्यविनोद की उसमें न्यूनता है। सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते समय ऐसी शैली का प्रयोग उन्होंने किया है।

भाषा की दृष्टि से भट्ट जी अपने समय के लेखकों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। शुद्ध हिन्दी के लेखकों में उनकी गणना होती है तथापि जनभाषा का भी उन्होंने प्रयोग किया है जिसमें उर्दू, फारसी और अंग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं और प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को खुलकर स्थान मिला है। भाषा की प्रगति की उन्हें पूरी पहिचान थी। भाषा में वक्रोक्ति और व्यंजकता के वे उपासक थे। उनका शब्द भंडार विशाल था। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करने में वे सिद्धहस्त थे। मुहावरों और कहावतों के द्वारा उन्होंने भाषा की शक्ति को बढ़ाया है। भट्ट जी की भाषा सर्वथा निर्दोष नहीं। व्याकरणिक अशुद्धियाँ, ग्रामीण

प्रयोग आदि उनके गद्य में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। परन्तु ये दोष केवल भट्ट जी के न होकर उस युग के ही थे। इनका परिमार्जन आगे चलकर हुआ। उनके सम्पूर्ण गद्य साहित्य को लें तो उनकी भाषा में प्रर्याप्त स्वच्छता है, सशक्त व्यंग्य है, गहन अर्थ और अभिव्यंजना की शक्ति है। भाषा और शैली के क्षेत्र में उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया। शब्द-चयन, पद-विन्यास, वाक्य योजना और कहावतों एवं मुहावरों आदि के विषय में उन्होंने व्यक्तिगत रुचि का परिचय दिया। वे वस्तुत: सरल, ठोस, भाव-व्यंजक, सरस, मुहावरेदार, प्रभावशाली एवं प्रवाहपूर्ण गद्य शैली के आचार्य तथा हिन्दी के विदग्ध-साहित्य के जनक थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(१८६४-१९३८)

भारतेन्दु युग की गद्य शैली और भाषा शैली की अस्थिरता को दूर करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है। उन्होंने भाषा संस्कार तथा शैली परिष्कार के कार्य में ही अपना सारा समय लगाया। इस प्रकार वे मूलत: साहित्य संशोधक थे। साथ ही उन्होंने गद्य के विभिन्न रूपों पर अपनी रचनाऐं प्रस्तुत कीं। वे समालोचक, निबन्धकार, सम्पादक और अनुवादक थे परन्तु समालोचक और निबंधकार होने में ही उनका विशेष महत्व है। उनका सिद्धान्त था कि लेखन कला ऐसी होनी चाहिये कि कठिन से कठिन बात भी इतने सरल रूप में रखी जाये कि साधारण पाठक की समझ में वह आ सके। इस सिद्धान्त ने ही उनकी भाषा और शैली का स्वरूप निर्धारित किया। उनकी शैली के तीन रूप मिलते हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक।

वर्णनात्मक शैली में द्विवेदीजी ने ज्ञान-विज्ञान का परिचय देने वाले साहित्य की रचना की। इसमें सूचना और परिचय पर अधिक बल है।

भावात्मक शैली की रचनाओं में उनका वह साहित्य आता है जिसकी उन्होंने स्वतंत्र रूप से अपनी प्रतिभा के उन्मेष द्वारा रचना की। इसमें भावों की कोमलता मिलती है।

विचारात्मक शैली उनकी प्रतिनिधि शैली है। उनका सम्पूर्ण आलोचनात्मक साहित्य इसी शैली का साहित्य है। विचारात्मक शैली के आलोचनात्मक निबन्धों में उन्होंने साहित्यिक और सामाजिक त्रुटियों की ओर लेखकों का तथा जनता का ध्यान आकृष्ट किया जिसमें आदेश, ओज और व्यंग्य मिलता है। गंभीर साहित्यिक विषयों पर विचारात्मक शैली में उन्होंने जो रचनाएँ कीं उनमें अधिकतर रचनाएँ 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। "विचारों की वह गूढ़-गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े" (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४६७)। "स्वाधीन चिन्तन, अनविभूत विचार, अछूती भावना जो निबन्ध की आन्तरिक स्वरूप शक्तियाँ हैं, इनके निबंधों में कम ही मिलती हैं। उनमें संग्रह बोध की विविधता, जानकारी की बहुश्रुतता और पत्रकारिता की सूचना-सम्पन्नता ही अधिक है। लगता है, आचार्य शिष्यमंडल को समझा रहा है" (जयनाथ 'नलिन'। 'हिन्दी निबंधकार,' पृष्ठ १०७)।" उदाहरण लीजिये—

"लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इसलिये जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो अहंकारी अवश्य है।"

लोभ पर ही रामचन्द्र शुक्ल का निबंध पढ़िये। उसकी गंभीरता की तुलना इससे नहीं हो सकती।

भाषा-संस्कार ही द्विवेदी जी का मुख्य उद्देश्य था। उन्होंने सरल भाषा लिखना ही अपना ध्येय स्थिर किया था। इसलिये शब्दचयन के विषय में वे उदार थे। संस्कृत, उर्दू-फारसी, अंग्रेज़ी और प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करना अनुचित न समझते थे। उनकी भाषा में स्वरूप की दृष्टि से बहुत स्वच्छता और एकरूपता दिखाई देती है। व्याकरण के नियमों का पूरा पालन उसमें हुआ है। उनके लेखों में छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। उनकी भाषा में समासगुण के स्थान पर व्यास गुण अधिक है। द्विवेदी जी अध्यापक के समान अपने पाठकों को विषय का बोध कराते हैं।

वास्तव में द्विवेदी जी आचार्य थे। भाषा का परिमार्जन तथा गद्य शैली का स्थिरीकरण उनका उद्देश्य था। इस प्रकार युगनिर्माता और पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्होंने साहित्य साधना की। यही कारण है कि उनका रचनात्मक साहित्य बहुत गंभीर तथा विचारपूर्ण न बन पाया। परन्तु आचार्य रूप में उनका महत्व अक्षुण्ण है। सचमुच वे हिन्दी गद्य के जॉन्सन हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(१८८३-१९२२)

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने परिमाण में अल्प गद्य ही लिखा परन्तु उसीसे उन्हें पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। वे पत्रकार, निबन्धकार, और कहानीकार थे। उन्हेंने 'समालोचक' पत्र का सम्पादन किया, तीन कहानियाँ लिखी' तथा कुछ निबन्धों की रचना की। 'उसने कहा था' उनकी सर्वप्रसिद्ध कहानी है जिसमें प्रेम और त्याग के बीच युद्ध की विभीषिका का वर्णन है। यह कहानी विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में स्थान पाने योग्य है। उनके निबन्ध भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें उन्होंने हिन्दू समाज की रूढ़िप्रियता तथा प्रतिरोध शक्ति के अभाव पर मार्मिक व्यंग्य किये हैं। 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ' और 'कछुआ धरम' उनके

इसी प्रकार के निवन्ध हैं। 'पुरानी हिन्दी' उनका गवेषणापूर्ण साहित्यिक निवन्ध है।

गुलेरी जी की शैली के विषय में शुक्ल जी लिखते हैं, "गुलेरी जी एक बहुत ही अनूठी लेख शैली लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गंभीर और पाण्डित्य-पूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया।.........शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है वह और किसी लेखक में नहीं" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४७७)। उनकी शैली के अनेक रूप हैं। वर्णनात्मक, विचारात्मक और व्यंग्यात्मक शैली का उन्होंने स्थान स्थान पर प्रयोग किया है। किन्तु व्यंग्यात्मक शैली उनकी अपनी शैली थी। उन्होंने हास्य व्यंग्य की सामग्री विविध क्षेत्रों से ली है जिन्हें वही पाठक समझ सकता है जिसका अध्ययन व्यापक हो। हास्य विनोद और व्यंग्य भी पाण्डित्यपूर्ण हो सकता है, यह गुलेरी जी ने ही दिखलाया। 'ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द', "जैसे बुड्ढे चौबे जी ने अपने कन्धे पर चढ़ी वालवधु के लिये कहा था कि 'या ही में बेटा या ही में बेटी", 'धर्म भागा और दण्ड कमण्डल लेकर ऋषि भी भागे' आदि वाक्यों से उनके स्मित हास का अच्छा परिचय मिलता है। उनकी वर्णनात्मक शैली का नमूना देखिये।

"यह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर है तो भी इसका आगा जितना अच्छा वना है पीछा तथा बगल उतनी रमणीय नहीं। नीचे के भाग पर धोती की तरह एक ही वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी चुनावट में समेट कर एक लम्बी लाँग के रूप में पैरों तक गिराया गया है।"

इस अवतरण में स्पष्टता और प्रसादपूर्णता के गुण विद्यमान हैं।

विचारात्मक शैली का व्यवहार उन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाओं में किया है।

गुलेरी जी की भाषा का झुकाव यद्यपि संस्कृतनिष्ठता की ओर है तथापि उर्दू और अंग्रेजी शब्दों को उचित स्थान पर प्रयुक्त कर देने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। उनका शब्द प्रयोग बहुत समीचीन है। प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी उन्होंने ग्रहण कर लिया है, यथा, 'आँजना', 'चिलकौआ' आदि। उन्होंने भाषा को सरल और व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है जिससे वह सर्वजन बोध्य हो सके। उनकी भाषा में चलतापन, स्फूर्ति और प्रवाह है। वाक्य योजना सरल और सम्बद्ध है। दीर्घ तथा लघु दोनों प्रकार के ही वाक्य गुलेरी जी ने लिखे परन्तु लघु वाक्य योजना का ही अधिक व्यवहार किया है। वास्तव में विषय के अनुसार ही वे भाषा तथा शैली का प्रयोग करते थे परन्तु भाषा की प्रेषणीयता पर उन्होंने सदा ध्यान दिया है।

गुलेरी जी द्विवेदी युग के मूर्धन्य निबन्धकारों में गिने जाते हैं। वे अध्यापक पूर्णसिंह के समान ही महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे। उनमें पाण्डित्य, विचार, व्यंग्य, हास आदि का सुन्दर सम्मिश्रण था। उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना अत्यन्त जागृत थी। वे समाज की दुर्बलताओं को पहचान कर उन पर कठोर व्यंग्य करते थे। ज्ञानपूर्ण विनोदात्मक निबन्धों के लिये गुलेरी जी को सदा स्मरण किया जायेगा।

अध्यापक पूर्णसिंह
(१८८१—१९३१)

अध्यापक पूर्णसिंह उन गिने-चुने गद्यकारों में से हैं जो थोड़ा लिखकर बहुत महत्त्व प्राप्त कर गये। उन्होंने केवल निबन्धों की रचना की और निबन्ध भी छः ही, जिनके नाम इस प्रकार हैं—'कन्यादान' या 'नयनों की गंगा', 'पवित्रता', 'आचरण की सभ्यता' 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' और 'ब्रह्मक्रांति'। भाषा और भाव की नई विभूति उन्होंने सामने रखी। उन्होंने जिस शैली में निबन्ध लिखे वह हिन्दी में

तब तक अज्ञात थी। उनके अन्दर देश-प्रेम की भावना थी तथा यूरोप की उन्नति की तरफ वे आकृष्ट थे। वे यूरोप के जीवन की नवीनताओं को भारतीय साँचे में ढालकर भारतीय जीवन में उतारना चाहते थे। उनके निबन्धों में उक्त भावना के दर्शन होते हैं। उनकी निबन्ध कला में अंग्रेजी निबन्ध कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनकी गद्य-शैली अनोखी थी। वह मुख्य रूप से भावात्मक थी परन्तु विचारात्मकता का भी उसमें स्पर्श था। वस्तुतः उन्होंने भावप्रधान विचारात्मक गद्य-शैली का प्रवर्तन किया। वे बहुत भावुक थे, साथ में चिन्तक भी। इसलिए अपने विचारों को भावावेश की स्थिति में लिपिबद्ध करते थे। उनकी गद्य शैली में कहीं तो प्रसादपूर्णता लक्षित होती है, कहीं रहस्यात्मकता और कहीं व्यंग्य प्रधानता। रहस्यवादी गद्य का एक उदाहरण देखिये—

"मनुष्य जन्म सफल हुआ। जय! जय! जय! भक्त की जिह्वा बन्द हो गई। बाहु पसार जा मिला। कुछ न बोल सका। कुछ न बोला, ब्रह्मक्रान्ति में लीन हो गया। उसके सितार के तार टूट गये। नारद की वीणा चुप हो गई। कृष्ण की बाँसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा। शिव का डमरू बन्द हो गया।"

उनका व्यंग्य सशक्त होता था। उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—

"पुस्तकों या अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं।"

"पुस्तकों के लिखे नुसखों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है।"

"आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।"

भाषा के विषय में उनका झुकाव मुख्य रूप से विशुद्धता की ओर था, तथापि उर्दू-फारसी के बहुप्रचलित शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जिससे भाषा व्यावहारिक बन गई है। लाक्षणिकता उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। गद्य-भाषा में लाक्षणिकता का प्रवेश उस समय एक नई चीज़ थी। पूर्णसिंह ने यह नई चीज़ हिन्दी-गद्य को प्रदान की। वाक्यखण्डों में उनकी लाक्षणिक शैली का अच्छा अभ्यास मिलता है, जैसे, "दुनिया के ये छोटे 'जार्ज' बड़े कायर होते हैं।" उनकी वाक्य योजना लम्बी भी है, छोटी भी। केवल वर्णन प्रधान स्थलों पर वाक्य छोटे हैं, परन्तु जहाँ भावावेश में आजाते हैं वहाँ उनके वाक्य लम्बे हो जाते हैं। उन्होंने सूत्रात्मक वाक्यों का भी प्रयोग किया है, जैसे, "आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है।" ऐसे वाक्यों में अर्थ की कसावट मिलती है। उनकी काव्यात्मक भाषा का नमूना देखिये—

"चन्द्रमा की मन्द-मन्द हँसी का, तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो...... प्रेम की भाषा शब्द रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा शब्द रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है।"

वाक्यों में विरोधाभास लाने में भी वे बहुत प्रवीण थे, जैसे, "राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा।"

अध्यापक पूर्णसिंह द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। उन्होंने अपने से पहले चली आती हुई भावात्मक निबन्धों की परम्परा को उत्कर्ष पर पहुँचाया और हिन्दी-गद्य में नवीन शैली की प्रतिष्ठा की।

प्रेमचन्द

(१८८०—१९३६)

हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में प्रेमचन्द का नाम बहुत आदर

से लिया जाता है। गद्यकार की दृष्टि से उनके पाँच रूप हमारे सामने आते हैं—उपन्यासकार प्रेमचन्द, कहानीकार प्रेमचन्द, नाटककार प्रेमचन्द, निबन्धकार प्रेमचन्द और पत्रकार प्रेमचन्द। प्रेमचन्द के उपन्यास और उनकी कहानियाँ अधिकांश में सामाजिक और राजनीतिक घटनाचक्र पर आधारित हैं। नाटककार के रूप में उन्हें सफलता न मिली। निबन्धों के क्षेत्र में उन्होंने साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई। इतने व्यापक क्षेत्र में लेखन कार्य करते हुए भी उन्हें केवल उपन्यास और कहानीकार के रूप में स्थायी ख्याति प्राप्त हो सकी। उनकी शैली के चार रूप मिलते हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक।

वर्णनात्मक शैली का प्रयोग मुख्य रूप से उपन्यासों और कहानियों में हुआ। भावात्मक शैली उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त उनके निबन्धों में भी मिलती है। यह शैली भाषा से इतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना उसके भावों से। ओज, करुणा आदि की उसमें प्रधानता है—

"तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारे खून में जोश है, तुम कसम खाओ कि जब तक चित्तौड़ पर अधिकार न कर लोगे, हरे पत्तों पर खाओगे, बोरियों पर सोओगे और नगाड़ा सेना को पीछे रखोगे क्योंकि तुम मातम कर रहे हो और यह बातें तुम्हें सदा याद दिलाती रहेंगी कि तुम को एक बड़े जातीय कर्त्तव्य का पालन करना है।"

"देखता है, तो एक जंगली-बिल्ली उसके हाथ से रोटी छीन ले जा रही है और वह बेचारी बड़े करुण स्वर में रो रही है। हाय! बेचारी क्यों न रोये? आज पाँच फाकों के बाद आधी रोटी मिली थी, फिर नहीं मालूम कै कड़ाके गुजरेंगे।"

प्रेमचन्द की विचारात्मक शैली बहुत प्रसाद पूर्ण है। विचारों

की भीड़भाड़ के स्थान पर उनकी सरल अभिव्यक्ति ही इस शैली में हुई है। सरल, स्पष्ट और स्वच्छ होने के साथ साथ वह प्रभावशाली भी है। उसमें शक्ति और प्रवाह है।

प्रेमचन्द की गद्य शैली का सामान्य सर्वेक्षण उसकी कुछ अन्य विशेषताओं को भी प्रकट करता है। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये थे। अतः उर्दू का चलतापन भी उनके गद्य में मिलता है। उनकी गद्य शैली में सरलता और सजीवता के साथ आलंकारिकता, चित्रात्मकता प्रभावोत्पादकता और अभिनयात्मकता भी मिलती है। हास्य और व्यंग्य में प्रेमचन्द ने बहुत मार्मिकता का परिचय दिया है। मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का प्रयोग तो उनकी शैली की उल्लेखनीय विशेषता है। प्रेमचन्द की गद्य शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप भी मिलती है।

प्रेमचन्द की भाषा एकदम व्यावहारिक और चलती हुई है। उर्दू शैली के स्पर्श से वह बहुत मनोरंजक हो गई है। सरल और सजीव होने के साथ साथ विचार, भाव और विषय के अनुकूल है। पात्रानुकूलता उसकी प्रमुख विशेषता है। प्रेमचन्द की भाषा इतनी विलक्षण है कि वह 'प्रेमचन्दी भाषा' के नाम से विख्यात है। उर्दू शब्दों को अत्यन्त सहज रूप में स्वीकार करने के साथ अंग्रेज़ी शब्दों को भी उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया है। वास्तव में भाषा पर उनका अप्रतिभ अधिकार था और उन्हें इस बात की पूरी पहिचान थी कि किस अवसर पर कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये। भाषा की प्रकृति की उन्हें पूरी परख थी। उनकी वाक्य-योजना लघु भी है, दीर्घ भी परन्तु सुसम्बद्ध और सुगठित होने के साथ साथ नपी तुली है।

सचाई तो यह है कि भाषा और विषय, दोनों दृष्टियों से प्रेमचन्द अपने क्षेत्र में जिस ऊँचाई पर पहुँच गये थे, उस ऊँचाई तक उनका कोई भी अनुयायी न पहुँच सका।

जयशंकर 'प्रसाद'

(१८८९-१९३७)

हिन्दी गद्य को सांस्कृतिक गरिमा प्रदान करने वाले जयशंकर 'प्रसाद' ने नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार और निबंधलेखक के रूप में ख्याति प्राप्त की। उनके नाटकों को ऐतिहासिक, पौराणिक और भावात्मक इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है। कहानियों और उपन्यासों के सामाजिक और ऐतिहासिक ये दो वर्ग बनते हैं। उनके निबंध भी तीन प्रकार के हैं—(क) कथात्मक—ये उनके प्रराभिक निबन्ध हैं, (ख) ऐतिहासिक—नाटकों की भूमिका रूप में इनकी रचना हुई है, (ग) साहित्यिक—इन निबन्धों का संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में हुआ है। इस प्रकार हिन्दी गद्य की इन्होंने बहुमुखी सेवा की। उनकी शैली के तीन रूप हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक, और विचारात्मक।

वर्णनात्मक शैली का प्रयोग उनके कथा-साहित्य—उपन्यास, कहानी—में मिलता है। सवांदलेखन में उन्होंने इस शैली का प्रयोग किया है। चित्रोपमता (वर्ण्य वस्तु का ऐसा वर्णन करना कि पाठक के सामने उसका चित्र खिंच जाए) की दृष्टि से उनकी यह शैली उल्लेखनीय है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा—

"स्वर्णमंच पर कोशल नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई वड़ी कुशलता से घमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे धीरे संचालित हो रहे हैं! ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।"

भावात्मक शैली का प्रयोग मुख्य रूप से उनके नाटकों में मिलता है। काव्यात्मकता, सरस, मधुर एवं रमणीय कल्पना, भावातिरेक आदि इस शैली की सब विशेषताएँ 'प्रसाद' के भावात्मक गद्य में प्राप्त होती

हैं। भावात्मक शैली के तो वे बेजोड़ गद्यकार हैं। उदाहरण लीजिए—

"हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न विश्वम्भर की मदिरा बन कर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भान्डार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा।"

विचारात्मक शैली में 'प्रसाद' ने आलोचनात्मक और गवेषणात्मक गद्य साहित्य की रचना की है जिससे मनन और चिन्तन टपकता है। अपने विषय को पुष्ट करने के लिये उन्होंने प्रमाणों और उद्धरणों के द्वारा अपनी इस शैली को गौरवपूर्ण बनाया है। इस शैली के साहित्य से पाठक को मानसिक श्रमसाध्य उपलब्धि भी होती है और नवीन विचार पथ पर भी उसका मस्तिष्क दौड़ता है। उनकी यह शैली बहुत गंभीर और समासगुण युक्त है। उदाहरण लीजिये—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्पों के आरोप से मिलन न होने क कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"

'प्रसाद' की भाषा एकदम साहित्यिक और संस्कृत गर्भित है। आरंभ में उनकी भाषा अवश्य व्यावहारिक थी परन्तु पीछे वैसी न रह गई। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने में तथा गंभीर विषयों का विवेचन करने में उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। भावात्मक स्थलों पर काव्यात्मक भाषा का प्रयोग है। विदेशी शब्दों

और लोकोक्ति-मुहावरों का अभाव है। शब्दों के साथ खिलवाड़ उन्होंने नहीं किया। सूत्रात्मक संक्षिप्तता भी उनकी भाषा में मिलती है, जैसे, "दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।" नाटकीय संवाद में भाषा की एकरूपता और पात्रानुकूलता का अभाव दोष ही कहा जायगा। नाटकों की भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से कठिन है। वस्तुतः 'प्रसाद' साहित्यिक भाषा तथा शैली के मूर्धन्य गद्यकार हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

(१८८४-१९४१)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी गद्य साहित्य के गिने चुने साधकों में आते हैं। वे मुख्य रूप से समालोचक और निबन्धकार थे और इन दो रूपों में उन्होंने जिस ख्याति का अर्जन किया वह बहुत कम को प्राप्त हो सकी। वे अतुल प्रतिभा सम्पन्न लेखक थे। सूर, तुलसी और जायसी पर मार्मिक समीक्षाएं प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उन्होंने मनोविकारों पर तथा साहित्यिक विषयों पर अनेक निबन्धों की रचना की। समालोचना के क्षेत्र में उन्होंने नवीन समीक्षा दृष्टि का प्रवर्तन किया तथा निबन्धों के क्षेत्र में गम्भीर विचारात्मक निबन्धों की परम्परा प्रारम्भ की। वे मुख्य रूप से विचारात्मक शैली के तथा गौण रूप में भावात्मक शैली के गद्यकार थे। वास्तव में उनका सम्पूर्ण साहित्य ही विचारपूर्ण है, भावात्मकता तो दो चार स्थलों पर ही प्रकट होती है। वह भी विचारों को मार्मिकता प्रदान करने के लिये।

विचारात्मक शैली के गद्यकारों मे शुक्ल जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके साहित्य का प्रत्येक अनुच्छेद नई से नई विचार सामग्री से परिपूर्ण है। माला के मनकों की भाँति विचार उनमें गूंथे हुए हैं। उनके विचारात्मक निबंधों को पढ़ते ही पाठक की बुद्धि

उत्तेजित हो कर नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़ती है। शुक्ल जी के समालोचनात्मक निबन्धों में विचारात्मक शैली का प्रयोग हुआ है जिसका नमूना इस प्रकार है—

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीक होते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मत में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिये श्रोता या पाठक का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।"

उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भी इसी शैली में लिखे गये हैं। उदाहरण लीजिये—

"यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उसका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना लोकरक्षा-कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिये चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नही खींचता है तो लोक संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये उपकार का कुछ बदला न देना कृतघ्नता है।"

भावात्मक शैली का प्रयोग शुक्ल जी ने वहाँ किया है जहाँ वे भावावेश में आ जाते हैं। उसमें गद्यकाव्य का माधुर्य न होकर भावों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। नमूना लीजिये—

"यह नवीनता नहीं है, अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भा-

वना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है; कहाँ तक कहें ? घोर साहित्यिक गुलामी है।"

वास्तव में शुक्ल जी की शैली में विचारात्मकता और भावात्मकता का समन्वय है, बुद्धि और हृदय का मनोरम संयोग है, अनुभूति की तन्मयता और सत्यता है तथा गंभीरता और सरलता का सुन्दर सामंजस्य है। विश्लेषण तथा व्याख्या के चरमोत्कर्ष में शुक्ल जी की गद्य शैली का सौंदर्य निहित है। विश्लेषण के लिए उन्होंने समता और विषमता का प्रदर्शन किया है। 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण' में विषमता के द्वारा तथा 'दुःख वर्ग में जो स्थान भय का है वही स्थान आनन्द वर्ग में उत्साह का है' में समता के द्वारा उन्होंने भावविश्लेषण किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये वे विषयान्तर भी कर देते हैं परन्तु मूल विषय से दूर नहीं जाते और विषयान्तर का मूल विषय से सम्बन्ध बना रहता है। शुक्ल जी की गद्य शैली में उनके व्यक्तित्व की भी व्यंजना मिलती है। यद्यपि विषय-प्रतिपादन को ही वे प्रमुखता प्रदान करते हैं तथापि उनके व्यक्तित्व की छाप भी शैली पर पड़ जाती है। विषय को सरल बनाने के लिये भी उन्होंने अपने व्यक्तित्व का स्पर्श उन्हें प्रदान किया है। उनके विवेचन और विश्लेषण में वैज्ञानिक सूक्ष्मता के बीच कवि की सहृदयता भी झाँकती रहती है।

व्यंग्य शैली का प्रयोग भी शुक्ल जी ने किया है। गंभीर प्रकृति के होने के कारण हास्य विनोद तो उनके साहित्य में कम ही है परन्तु व्यंय अवश्य मिलता है। व्यंग्य करने में उन्हें अद्भुत कौशल प्राप्त था। कुछ स्थलों पर उनका व्यंग्य निर्मम बन पड़ा है। नमूना देखिये—

"लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है।"

"मोटे आदमियो ! तुम जरा से दुर्बल हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो जाने कितनी ठटरियों पर माँस चढ़ जाता।"

"एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।"

भाषा के विषय में भी शुक्ल जी की गद्य शैली अनुकरणीय है। उनकी भाषा बहुत प्रौढ़, तत्सम प्रधान और भाव व्यंजक हैं। विचारात्मक शैली के अनुकूल ही उनकी भाषा बन पड़ी है। उसमें गंभीर से गंभीर विचारों को व्यक्त करने की पूरी क्षमता है। व्यंजकता के साथ साथ प्रवाह भी उसमें मिलता है। भावात्मक स्थलों में उनकी भाषा में भावुकता आ जाती है। कुछ स्थलों पर उसमें कविता का सा लालित्य तथा अलंकरण की प्रधानता है, जैसे, "पर्वतों की ऊंची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वातविलोडित जल प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्ण घनमंडित, रश्मिरंजित सान्ध्य दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अन्धड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है।" जहाँ विषय को शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है वहाँ सरल और प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो भाषा का घरेलू और चलता रूप दिखाई देता है, जैसे, "वह प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और वार वार मर कर अपना हाल सुनाया करते हैं।" परन्तु सूक्ष्म भावों का साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने तत्सम प्रधान तथा क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। सूत्रात्मक वाक्यों का प्रयोग शुक्ल जी की भाषा की अन्य विशेषता है, जैसे, "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है," "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।"

लोकोक्तियों, मुहावरों तथा उद्धरणों का प्रयोग शुक्ल जी ने किया तो है परन्तु अधिक नहीं। विचारात्मक शैली में इसका अवकाश कम ही रहता है।

शब्दचयन के क्षेत्र में शुक्ल जी उदार ही कहे जायेंगे यद्यपि उनका झुकाव तत्समता की ओर अधिक है। वस्तुतः भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाने के लिये तथा प्रवाह बनाये रखने के लिये उन्होंने सब प्रकार के शब्द स्वीकार कर लिये।

वास्तव में शुक्ल जी ने हीं सर्वप्रथम हिन्दी गद्य को उत्कृष्ट निबंध और समालोचना के प्रणयन के योग्य बनाया तथा अभिव्यंजना की शक्ति दी। उन्होंने कई नये शब्दों का प्रचलन किया जिससे भाषा का अभिव्यक्ति सामर्थ्य बढ़ा। प्रेषणीयता, प्रतिवर्त्तन, शक्ति काव्य, कला काव्य, अन्तस्संज्ञा, सर्ववाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, गद्यवत् आदि शब्द ऐसे ही हैं। उन्हें आचार्य कहना सर्वथा उचित हैं। वे हिन्दी के आदर्श गद्य शैलीकार थे। विचारात्मक शैली के गद्यकार के रूप में तो उन्हें स्थायी साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त है।

गुलाबराय
(१८८७)

'बालानां सुखबोधाय' रचना करने वालों में गुलाबराय जी को विशेष स्थान प्राप्त है। वे समालोचक और निबन्धकार हैं परन्तु मुख्य रूप से वे निबन्धकार ही हैं तथा निबन्धकार के रूप में ही उन्होंने अपना जीवन आरम्भ किया था। उनके निबंध पाँच प्रकार के हैं—सामाजिक, साहित्यिक, दार्शनिक सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। उनकी समालोचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—सैद्धान्तिक, व्यावहारिक। जिन विषयों पर उन्होंने लिखा है वे सभी विचारात्मक हैं। अतः उनकी शैली मुख्य रूप से विचारात्मक ही है, यद्यपि भावात्मक, वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक शैली में भी उन्होंने साहित्य रचना की है।

विचारात्मक शैली की रचनाओं में गुलाबराय जी विचारों की भीड़-भाड़ उपस्थित नहीं करते, अपितु सरल रूप में विचारों का प्रकाशन ही उनका ध्येय रहता है। परन्तु दार्शनिक स्थलों पर विचारों की पूरी गंभीरता दिखाई देती है। उनकी दर्शन सम्बन्धी रचनाओं में सर्वत्र ऐसी विचार प्रधानता मिलती है। उदाहरण लीजिये—

"सत्तासागर में दोनों की ही स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है, जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए बैठे हैं। सुन्दर वस्तु को हम इसी कारण सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं।"

उनके विचारात्मक निबन्धों में यह गंभीरता और ठोसता कुछ कम ही मिलती है। सर्वत्र प्रसादगुण व्याप्त है। पाठक उनके निबन्धों को भली भाँति समझ जाता है। प्रसंगोचित उद्धरणों का प्रयोग करना उनकी शैली की उल्लेखनीय विशेषता है। नमूना लीजिये—

"सर्व खल्विंद ब्रह्म' की एकात्मवाद की व्यापक दृष्टि सबसे पहले भारत को ही मिली थी।"

"उसने 'सर्वेभद्राणि पश्यन्तु' का पाठ अपने जीवन-प्रभात में पढ़ा था, उसी को आज भी दुहराता है।"

व्यंग्यात्मक शैली की रचनाओं में सरल हास्य विनोद मिलता है। उनकी यह शैली बहुत मनोरंजक है। उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—

"खैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूँझल होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है—तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिये भुस

लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव । भुस खरीद कर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे चलना पड़ता है जैसे बहुत ऐसे लोग अक्ल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।"

गुलाबराय जी की भाषा में स्वच्छता, विचारों की स्पष्टता, वाक्य विधान की सरलता और अभिव्यंजना की सुबोधता है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की प्रधानता है । वास्तव में विषयानुसार ही उनकी भाषा का रूप बदलता है। व्यंग्यात्मक शैली की भाषा में उर्दू के शब्दों के देशज शब्द और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। गुलाबराय जी का वाक्य विधान सरल, शृंखलाबद्ध और संक्षिप्त है। व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा निर्दोष है। आलंकारिकता भी उसमें यत्र तत्र मिलती है। भावात्मक भाषा का प्रयोग भी उन्होंने किया है, जैसे, "हम चल पड़े हैं, हमारे पैर कभी कभी लड़खड़ाते भी हैं और हम गिर भी पड़ते हैं किन्तु पड़े नहीं रहेंगे, यही हमारी आशा है ।" उनकी भाषा में शब्दाडम्बर नहीं मिलता । उसमें विस्तार तो है पर व्यर्थता नहीं ।

वास्तव में गुलाबराय जी गद्यकार हैं जो गंभीर और विचारप्रधान पाठकों तथा छात्रों, दोनों के लिये ही लिखते हैं और दोनों को ही वे अपनी बात सफलता से समझा देते हैं, यही उनकी उल्लेखनीय विशेषता है ।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(१८९४)

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की हिन्दी गद्य सेवा अनेक क्षेत्र में फैली हुई है। समालोचना तथा निबन्ध लिखने के अतिरिक्त उन्होंने कहानियाँ, संस्मरण, रेखाचित्र, तथा रिपोर्ताज़ भी लिखे हैं और पत्रों का सम्पादन भी किया है। समालोचना के क्षेत्र में

वे पाश्चात्य सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में वे मौलिक भी रहे हैं, अनुवादक भी। परन्तु प्रधान रूप से वे निबन्धकार ही हैं। उनकी कहानियाँ भी मूलतः निबन्ध ही हैं, उन्हें कथानक निबंध कहा जा सकता है। समाज, साहित्य, दर्शन, इतिहास, अध्यात्म आदि प्रायः सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उन्होंने निबन्धों की रचना की है। उनकी शैली के दो रूप मिलते हैं—विचारात्मक और भावात्मक। वास्तव में दोनों शैलियों में उन्होंने इतने अधिकारपूर्वक निबन्ध रचना की कि कुछ विद्वान् उन्हें विचारात्मक निबन्धकार मानते हैं और कुछ भावात्मक।

विचारात्मक शैली के साहित्य में बख्शी जी की अध्ययन एवं चिन्तन की सूक्ष्मता एवं स्वतंत्रता तथा विचाराभिव्यक्ति की स्पष्टता मिलती है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों से उनकी विश्लेषण और मूल्यांकन की क्षमता का परिचय मिलता है। गूढ़ विचारपूर्णता तथा अर्थ सम्पन्नता उनकी इस शैली की विशेषताएँ हैं। उन्होंने व्यास पद्धति में इस शैली की रचनाएँ लिखी हैं। उदाहरण लीजिये—

"यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और श्रेयस्कर दिखाई देता है, वह सब मनुष्य की आत्मा से तो प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मन्दिर और मस्जिद, शिल्प और कला, पूंजी और मशीन, सभा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ने ही पुराणों की रचना की है। मनुष्यों ने ही धर्म चलाये हैं। मनुष्यों ने ही 'स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है।"

भावात्मक शैली की रचनाओं में रमणीय कल्पनाओं और भावनाओं के साथ भाषा की मधुरता, लघु वाक्य योजना, व्यंग्यात्मकता और करुणाप्रधान भावुकता के दर्शन होते हैं। नमूना देखिये—

"संसार का काम कब रुकता है? काल की गति कब अवरुद्ध हुई है? प्रकृति की चाल कब बन्द हुई है? सभी कुछ ज्यों का त्यों बना रहता है, परन्तु कोई एक चुपचाप चला जाता है। एक विटप का एक फूल झड़ पड़ता है, उसकी सौरभ निधि नष्ट हो जाती है। एक तड़ाग का कमल सूख जाता है और उसकी शोभा लुप्त हो जाती है परन्तु प्रकृति का व्यापार चलता ही रहता है।"

बख्शी जी की गद्य शैली में व्यक्तित्व व्यंजना भी खूब मिलती है। अनुभूति की सचाई और हार्दिकता के साथ विचारों की कौंध को गूँथ देना उनकी ही कला है। बख्शी जी अपने मन्तव्य को प्रश्नात्मक रूप में उपस्थित कर उसे प्रभावशाली बना देते हैं।

बख्शी जी की भाषा व्यावहारिक न होकर साहित्यिक है। वह शुद्ध हिन्दी है। उसमें प्रवाह और शिथिलता का अभाव है। भाषा पर उनका बहुत अधिकार है। विषयानुसार भाषा का स्वरूप वे स्थिर कर लेते हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण उसमें विशेष रूप से है। शब्दप्रयोग में उनका झुकाव संस्कृत के शब्दों की ओर है परन्तु बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को उन्होंने निस्संकोच स्वीकार किया है। उपयुक्तता और व्यंजकता उनके शब्दप्रयोग की विशेषता है। बख्शी जी की वाक्य योजना संक्षिप्त परन्तु भाव को पूर्ण रूप से प्रकाशित करने वाली है, परस्पर सुसम्बद्ध और शब्दाडम्बर से मुक्त होने के साथ साथ सूत्रात्मकता का गुण भी धारण किये है। बख्शी जी की भाषा व्याकरण सम्मत है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग उसमें विरल ही है।

वास्तव में बख्शी जी सरस, सरल, आकर्षक और आत्मीयतापूर्ण शैली के गद्यकार हैं। विचारात्मकता और भावात्मकता के सामंजस्य के कारण उनकी गद्य-रचनाएँ बहुत पठनीय और लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं।

राय कृष्णदास

(१८९२)

साहित्य मर्मज्ञ और कला कोविद रायकृष्ण दास गद्य के क्षेत्र में कहानीकार और गद्य लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी कहानियाँ घटना प्रधान न होकर भावना प्रधान हैं। उनमें सभ्यता और संस्कृति की झलक है। कहानियों के विषय में वे 'प्रसाद' से प्रभावित हैं। गद्यकाव्य की रचना में उन्होंने रवीन्द्र नाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' से प्रेरणा ली। 'साधना', 'पागल', 'संलाप,' 'प्रवाल,' 'छायापथ' आदि उनके गद्यकाव्य संग्रह हैं जिनमें प्रशंसनीय भावुकता के दर्शन होते हैं। उनके गद्य गीतों में परोक्षसत्ता के प्रति भावुक हृदय की सुकुमार रागात्मक अनुभूति प्रकट की गई है। कहीं प्रेम और श्रद्धा के भावचित्र हैं। और कहीं शिशु भावना की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार विषय के अनुसार उनकी शैली सर्वत्र भावात्मक हो रही है।

भावात्मक शैली में ही उन्हों ने अपने गद्य साहित्य की रचना की है। उसमें व्यंजनात्मकता के साथ साथ मार्मिकता भी है। प्रतीकात्मक सांकेतिकता होते हुए भी वह दुर्बोध नहीं हो पाई है। लाक्षणिकता का प्रयोग भी उसमें एक सीमा तक हुआ है। वास्तव में उनकी भावात्मक शैली में कोमलता और प्रवाह है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"मैं अपनी मणि मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुंचा पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे ?"

भाषा के क्षेत्र में राय जी ने व्यावहारिकता को अपना आदर्श रखा है। भावात्मक शैली में भाषा की क्लिष्टता अप्रत्याशित नहीं होती परन्तु राय जी भाषा की क्लिष्टता और कृत्रिमता से बहुत

दूर है। भाषा, भाव अभिव्यंजना—सभी में वे दुरूहता से बचे हैं। प्रतीकात्मक सांकेतिकता और लाक्षणिकता का गुण उनकी भाषा में आया तो है, परन्तु सीमा में। भाषा उससे दुर्बोध नहीं हो पायी। राय जी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा को बोझिल नहीं बनाया। वे उर्दू के तथा प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का खुला व्यवहार करते हैं। मुहावरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलता है। उन्होंने छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है जिससे भाषा में प्रवाह बना रहा है। एक उदाहरण लीजिये—

"हे मानस, तू निरन्तर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिसके सुख में मग्न होकर सुवर्ण सरोज झूमा करते हैं और निरन्तर मकरन्द दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं, तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है। यह मानवी साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।"

महादेवी वर्मा

(१९०७)

महादेवी वर्मा का गद्य भी उतना ही उत्कृष्ट है जितनी उत्कृष्ट उनकी कविताएँ हैं। उन्होंने रेखाचित्र, संस्मरण और निबंधों की रचना की है। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में उनके रेखाचित्र हैं, 'पथ के साथी' में संस्मरण तथा 'शृंखला की कड़ियों' और 'क्षणदा' में उनके निबंधों का संग्रह है। महादेवी के सभी रेखा-चित्र सरलता, करुणा और ममता की सहज प्रतिमाएँ हैं। उनके संस्मरण कला की दृष्टि से अत्यन्त सजीव, उत्कृष्ट और काव्यमय हैं। उनके निबन्ध सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर लिखे गये हैं। सामाजिक निबन्धों में नारी की समस्या पर विचार किया गया है।

उनका निबन्ध साहित्य मनन एवं चिन्तन से पूर्ण है । इस प्रकार विषय के अनुसार उनकी शैली के तीन रूप मिलते हैं—विचारात्मक, विवेचनात्मक, कलात्मक ।

विवेचनात्मक और विचारात्मक शैली में महादेवी जी ने अपने निबन्ध साहित्य की रचना की है । इनकी यह शैली गंभीर, चिन्तन प्रधान और विश्लेषणात्मक है । भाषा में क्लिष्टता है, प्रौढ़ता और अर्थगर्भत्व है । इस शैली के लेखों में महादेवी जी गंभीरता की प्रतिमा बन जाती हैं । उदाहरण लीजिये—

"जीवन को समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता । अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की संभावना कर सकता है वह इसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका एक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा ।"

कलात्मक अथवा अलंकृत शैली में उनके रेखाचित्र और संस्मरण हैं । यह शैली काव्यमय और सरल है । मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के साथ उपमा, रूपक आदि का भी प्रयोग है । चित्रोपमता इस शैली की विशेषता है । नमूना देखिये—

"दुवरी की बहू अपने कर्कशपन के लिये प्रसिद्ध है । बिखरे हुए बालों की रूखी और मैली कुचैली लटों में से एक दो उसके पपड़ी पड़े हुए ओठों पर चिपकी रहती हैं । गोबर रूपी मेंहदी से नित्य रंजित हाथों की प्रत्येक उंगली युद्ध के अनेक रहस्यमय संकेत छिपाये रहती है ।"

महादेवी जी की भाषा संस्कृत गर्भित खड़ी बोली है । वे विदेशी शब्दों को स्वीकार नहीं करतीं । शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का योग

करना ही उन्हें अभीष्ट है। उनकी भाषा में काव्यमयता के साथ नारी सुलभ स्निग्धता है। मुहावरे और लोकोक्तियों का स्थान उनकी भाषा में अल्प ही है। उनकी भाषा और शैली को पढ़कर संस्कृत के अमर कवि वाण भट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा बेजोड़ कलाकार हैं। उनके गद्य का स्थायी साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व है।

जैनेन्द्र कुमार

(१६०५)

जैनेन्द्रकुमार हिन्दी गद्य के गौरव स्तम्भ हैं। इसलिये नहीं कि उन्होंने 'बहुत' कुछ लिखा है, परन्तु इसलिये कि उन्होंने 'बहुत बढ़िया' लिखा है। वे उपन्यासकार, कहानीकार और निबन्धकार हैं। उपन्यासों और कहानियों में वे मनोविश्लेषणवादी रहे हैं और निबन्धों में उन पर गाँधीवाद के अतिरिक्त बुद्ध की करुणा और महावीर की अहिंसा का प्रभाव है। उनके निबन्ध चार प्रकार के हैं—सामाजिक, दार्शनिक, साहित्यिक और राजनीतिक। उनमें भावुकता के स्थान पर विचारों की प्रधानता है। इसलिये उनकी शैली सर्वत्र विचारात्मक ही रही है।

विचारात्मक शैली की सम्पूर्ण विशेषताएँ जैनेन्द्र जी के निबन्धों में मिलती हैं। विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा, सूक्ष्मता और मौलिकता उनमें सर्वत्र मिलती है। अपने विचारों को वे बहुत आकर्षक रूप में उपस्थित करते हैं। कहीं बातचीत करते हुए दिखाई देते हैं तो कहीं प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। नमूना लीजिये—

"मुझे इस दया के विपक्ष में कुछ कहना नहीं है। जो दया कर सकता है उसे दया करनी चाहिये। लेकिन यह बात मेरे मन में जरूर उठती है कि अपने को दयावान की जगह पर पाना और इस तरह दूसरे को दयनीय स्थिति में

डालना क्या उचित है ? क्या इससे हालत कुछ सुधरती है ? क्या यों विषमता बढ़ती ही नहीं है ? क्या इससे बखेड़ा थोड़ा भी निपटता है ? क्या इससे भिखारी से उसका भिखारीपन तनिक भी उतर कर दूर होता है ?"

जैनेन्द्र की यह शैली बड़ी प्रभावोत्पादक है। इसमें सहृदयता के साथ साथ स्वाभाविकता भी है। उनकी शैली में अहंकार भी है, आत्मीयता भी। वे अपनी बात बहुत जोर शोर से पाठक के सामने रखते हैं परन्तु इस तरीके से कि मानो पाठक को अपनी बात मनवाने की उनमें इच्छा नहीं लेकिन फिर भी पाठक उनकी बात मान जाता है। व्यक्तित्व की व्यंजना भी जैनेन्द्र के निबन्धों में भली प्रकार हुई है। निरर्थक विस्तार उनकी शैली में न मिलेगा। एक एक शब्द, एक एक वाक्य सोच समझकर रखा हुआ है। गूढ़ता उनमें इतनी है कि एक अनुच्छेद की व्याख्या में एक लेख तैयार किया जा सकता है, परन्तु उस में क्लिष्टता नहीं। वे विवेचन करते हुए अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। नमूना देखिये—

"दार्शनिक मीमांसिक है। वह व्यष्टि को लाँघ सकता है। कर्म जगत् में क्या हो रहा है, इससे विमुख रहकर उसी के अन्तिम कारण के अनुसन्धान में वह व्यस्त हो जा सकता है। सहानुभूति से उसे लगाव नहीं। उसे तटस्थता चाहिये।"

जैनेन्द्र की भाषा उनकी विचारात्मक शैली के अनुरूप समासगुण युक्त और गंभीर नहीं है। वह घर-घाट और हाटबाट की भाषा है। वह व्यावहारिक है। स्वभाविकता और बोधगम्यता उसकी विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा में प्रयत्न और कृत्रिमता नहीं। इसलिये शब्दचयन में वे बहुत उदारता से काम लेते हैं। तत्सम, तद्भाव, विदेशी, देशज, सभी प्रकार के शब्द उनकी भाषा में आ गये हैं। परन्तु वे सभी अपने अपने स्थान पर उपयुक्त रीति से बैठे हैं। जैनेन्द्र के वाक्य लम्बे भी हैं छोटे भी। लम्बे

होने के बावजूद भी उलझन और अटपटापन उनमें नहीं है। उनके कई वाक्य अर्थ गौरव के कारण सिद्धान्तवाक्य के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं, जैसे—

"अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जौ भर हटे तो वह उसी अंश में सदोष है।"

"नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन है।"

व्यवस्था की कसौटी पर उनकी भाषा खरी नहीं उतरती, कारण यह है कि वे भाषा से अधिक भाव पर ध्यान देते हैं। व्याकरण की अशुद्धियाँ, मुहावरों का परम्परा से हटकर प्रयोग, 'भीख' से 'भिखाई' आदि अप्रचलित शब्दप्रयोग उनकी भाषा में आसानी से मिल जाते हैं परन्तु फिर भी उनकी शैली में आकर्षण है। इसी से जैनेन्द्र निराली शैली के गद्यकार कहलाते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

(१९०७)

हजारी प्रसाद द्विवेदी तो हिन्दी के निराले गद्यकार हैं। वे मुख्य रूप से समालोचक और निबन्धकार ही कहें जायेंगे। एक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है—'बाणभट्ट की आत्मकथा'। समालोचक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास पर तथा सूर और कबीर पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है। उनके निबन्धों के चार वर्ग बनाये जा सकते हैं—साहित्यिक, सांस्कृतिक, गवेषणात्मक, आलोचनात्मक। द्विवेदी जी के निबन्धों में प्राचीन और नवीन का मनोरम सामंजस्य है। भारतीय संस्कृति तथा भारतीय इतिहास के प्रति उनकी पूज्य भावना का परिचय उनके निबन्धों से मिलता है। उनके निबन्धों से चिन्तन, विद्वत्ता और अनौपचारिकता टपकती है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' तो हिन्दी की 'कादम्बरी' है। अपनी तरह की वह अकेली रचना है। उनकी शैली के तीन रूप मिलते हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक।

वर्णनात्मक शैली के गद्य में कथात्मकता का गुण मिलता है। द्विवेदी जी कुछ 'कहना' और 'सुनाना' शुरू कर देते हैं। उदाहरण लीजिये—

"जिस गाँव में साहित्य चर्चा करने के लिये बैठा हूं उसका नाम ओझवलिया है। यह मेरी जन्मभूमि है। इस गाँव के एक हिस्से को 'आरतदुबे का छपरा' कहते हैं। यही वस्तुतः मेरी जन्मभूमि है, परन्तु वह हमेशा से इस गाँव का हिस्सा ही रहा है। 'आरतदुबे' मेरे ही पूर्वपुरुष थे।"

भावात्मक शैली में भावों की कोमलता और मधुरता मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी के हृदय से भाव अपने आप फूटते चले आ रहे हैं। नमूना देखिये—

"कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता। हिन्दी भवन के आँगन में बहुत है। कैसा मनोहर नाम है। फूल और भी मनोहर होते हैं। जरा सा आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की। बादल की बात छोड़िये, जरा सी पुरवैया बह गई तो इसका उल्लास देखिये। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिये।"

विचारात्मक शैली के गद्य में व्याख्यात्मकता और व्यास पद्धति मिलती है। द्विवेदी जी ने संक्षिप्तता और समास पद्धति के द्वारा अपनी शैली में दुर्बोधता नहीं भरी। उन्होंने स्वयं ही बड़े प्रसादपूर्ण ढंग में अपने अभीष्ट को व्याप्त किया है। इस शैली में गूढ़ता न होकर प्रांजलता है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य रह गये और मदनोत्सव की धूम धाम भी मिट गई।"

उपर्युक्त गद्यांश में लेखक ने एक विचार रखा है पर पाठक को मस्तिष्क पर उसका बोझ मालूम नहीं पड़ता।

द्विवेदी जी की गद्यशैली में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट व्यंजना हुई है। स्थान स्थान पर 'मैं' का प्रयोग हुआ है। इस आत्मतत्त्व से उनकी शैली बहुत रोचक हो गई है। विश्लेषण प्रधानता उसका अन्य गुण है। वे सूत्र रूप में अपनी बात नहीं कहते अपितु उसकी व्याख्या कर देते हैं। वे विचारों को ठूँस ठूँस कर भरने के स्थान पर अत्यन्त सरल रूप में उन्हें प्रकाशित कर देते हैं। पाठक को प्रभावित करने की और उसे सफलता पूर्वक 'अपील' करने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

द्विवेदी जी की भाषा तत्सम प्रधान है परन्तु भाषा के स्वाभाविक प्रभाव में जो उर्दू और अंग्रेजी के शब्द आ जाया करते हैं, उन्हें द्विवेदी जी ने निस्संकोच स्थान दिया है। उनकी शब्दयोजना बहुत सुदृढ़ होती है। प्रान्तीय शब्दों के व्यवहार पर भी उनका आग्रह है जिससे भाषा में माधुर्य आ जाता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग उनके यहाँ नहीं मिलता। उनके स्थान पर द्विवेदी जी ने उद्धरणों का प्रयोग किया है, जैसे, 'यह भी क्या कि दस फूले, फिर खंखड़ के खंखड़—दिन दस फूला फूलिकै खंखड़ भया पलास।' वास्तव में द्विवेदी जी बहुत मनोमुग्धकारी शैली के गद्यकार हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

पुस्तक लौटाने की तिथि अन्त में अङ्कित है। इस तिथि को पुस्तक न लौटाने पर छै नये पैसे प्रति पुस्तक अतिरिक्त दिनों का अर्थदण्ड लगेगा।